नाम-सर्वस्व

लेखक

विद्यामार्तण्ड स्वामी दीक्षानन्द सरस्वती

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

4408, नई सड़क, दिल्ली-110006 ©23977216

प्रकाशकीय

बहुत वर्ष पहले की बात है कि जब मैं ब्रह्म के निज नाम ओङ्कार की व्याख्या लिख रहा था तब विचार आया कि जीवात्मा के निजनाम की भी खोज होनी चाहिए, तब मैंने देखा कि ब्रह्म के निज नाम के साथ ही आत्मा का नाम भी अंकित है। यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय में मानो पिता हम पुत्रों को सम्बोधित करके कह रहे हैं कि हे क्रतो! 'ओ३म्' स्मर फिर क्रतु शब्द के अर्थ की गहराई में उतरने के लिये करणार्थक कृञ् धातु पर दृष्टि गई। जीवात्मा का निजनाम क्रतु कर्मेन्द्रियों की अपेक्षा से है और उसमें प्रमुख स्थान कर का है। एकमात्र मनुष्य योनि ही ऐसी ही जिसे कर्म करने वाले दो 'कर' मिले हैं। अतः **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेच्छतं समाः।**

इस आदेश में पड़ा हुआ "इह" पद ने अपनी ओर आकर्षित किया और तत्काल इसने "पर" शब्द की याद दिला दी। अब दो लोक खुल गये इहलोक और परलोक। यदि मनुष्य को परलोक की प्राप्ति करनी हो तो सर्वप्रथम इहलोक को सुधारना होगा जो कि कर्म के द्वारा ही सम्भव है। इसीलिये उपनिषद्कार का आदेश हुआ '**कर्म कुरु**'। व्यक्ति के सामने कुरुक्षेत्र खुला हुआ है इस क्षेत्र में जो कुछ भी बीज वपन करोगे उस ही का फल भोगोगे "**इतः अन्यथा न अस्ति।**" इसके सिवाय और कोई मार्ग नहीं है।

कुरुक्षेत्रः—

शतपथकार ने अति स्पष्ट शब्दों में लिखा "**कुरुक्षेत्रं वै देवानां देवयजनमास**" और इधर श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में कहा—'**इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते**'।

सचमुच यदि यह शरीर कुरुक्षेत्र है और शतपथ की भाषा

में देवों की यजनस्थली है तो निस्सन्देह मनुष्य को कर्म करते ही रहना चाहिए। यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य को जो अयोध्यापूर मिला हुआ है उसे देवों का पुर कहा गया है मुखमण्डल में पञ्च ज्ञानेन्द्रिय रूप देव निवास करते हैं। अत: उक्त भावनाओं ने मुझे सदैव कर्म में प्रवृत्त रखा जिसका फल प्रत्यक्षत: मेरे सामने हैं। वेद ने कहा भी है—**कृतं मे दक्षिणे हस्ते, जयो मे सत्य अहित:।**

कृ धातु का चमत्कार—

हाथों से निर्मित किसी भी रचना को कृति कहते हैं। यदि वह अभ्यास का रूप धारण कर ले तो कृति प्रकृति में बदल जाती है और जीव प्रकृति का चलाया हुआ चलता है, उसको बदलना सहज नहीं होता। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी कहा है—

''प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रह:किं करिष्यति।''

परमात्मा इसी प्रकृति सूत्र से जीव को बाँधे रखता है शरीर त्याग के पश्चात् भी यह बन्धन सूत्र छूटते नहीं। वह प्राणी के कर्मानुसार परमात्मा के द्वारा तदनुरूप गृहस्थ से जोड़ दिये जाते हैं। उसी से बँधा जीव पुत्ररूप में उनकी गोदी में उपस्थित हो जाता है। यहाँ पर भी प्रकृति के तीन सूत्रों की भाँति तीन व्यक्ति उस बालक को गोदी में लेकर उसके निर्माण की योजना बनाते हैं। वे तीन व्यक्ति हैं माता, पिता और आचार्य। यदि सचमुच परिवार, समाज और राष्ट्र को उत्तम नागरिक उपलब्ध कराने हैं तो निश्चित रूप से इन तीन को डोरी पकड़नी होगी। तभी शतपथकार का यह वचन चरितार्थ होगा—

''मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद''

विश्ववारा संस्कृति:—तीनों निर्माणकर्त्ता व्यक्तियों की गोदी में प्राप्त शिशु को अब संस्कृति की आवश्यकता है जो विश्व के लिए वरणीय है अर्थात् सार्वभौम संस्कृति है। यह पुत्र माता पिता की गोदी में चन्द्र है जो प्रतिपदा का है। यह एक कला लेकर आया है। उसे पूर्णचन्द्र बनाना है। पूर्णचन्द्र की पहचान है सोलह

कलाओं से युक्त हो जाना है। सोलह संख्या ने बरबस हमारा ध्यान सोलह संस्कारों की ओर खींच दिया।

अब हम पर दायित्व आ गया कि हम इन कलाओं की यथामति व्याख्या करें॥ यह व्याख्या जहाँ एक ओर वाणी के द्वारा हो वहाँ दूसरी ओर पाणि के द्वारा हो, पाणि के द्वारा होने का अभिप्राय है लेख द्वारा, जिसमें से हमने उपनयन कला पर बहुत पहले ही एक लघुग्रन्थ लिखा था जिसकी सर्वत्र भूरि-भूरि प्रशंसा हुई। यह तो ग्रन्थ को पढ़कर ही जाना जा सकता है।

नामन् कला:—

यह जगत् नामरूपात्मक है इससे हमने यही उचित समझा कि प्रथम नाम कला पर ही लिखा जाय। जो कि पाठकवृन्द के हाथों में है। और उसको आद्योपान्त पढ़कर ही अपनी सम्मति दे पायेंगे। आगे हमारा प्रयत्न होगा क्रमशः संस्कारों की व्याख्या लिखें। परमात्मा का आशीर्वाद मेरे सर पर है वह सदैव यही कहता है **"तवाहमास्मि सख्ये न्योका:"**॥

बृहत् सूचीपत्र:—

पिछले वर्ष मैंने समर्पण शोध संस्थान एवं कुसुमलता आर्य प्रतिष्ठान के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थों का बृहत् सूचीपत्र तैयार कर प्रकाशित किया। उसमें मेरे द्वारा लिखित सर्वस्व ग्रन्थमाला का भी वर्णन था। मैंने वे सभी नाम उद्धृत कर दिये जो प्रकाशित अथवा अप्रकाशित थे। अप्रकाशित से तात्पर्य कुछ प्रेस में थे और कुछ मेरे लेखनी से लिखे जा रहे थे उनमें—१. ओङ्कारसर्वस्व, २. उपासनासर्वस्व, ३. मर्यादासर्वस्व, ४. वेद-सर्वस्व एवं नाम सर्वस्व का उल्लेख था। नामसर्वस्व की पुस्तिका तो तैयार हो गई थी, किन्तु विक्रयार्थ उपलब्ध नहीं थी और पाठकवृन्द की बराबर मांग थी कि हमें यह ग्रन्थ देखने और पढ़ने का अवसर कब प्राप्त होगा। देरी का कारण उसके प्रकाशकीय लिखने में तथा कुछ अन्य त्रुटियों के सुधार एवं उसका साज-सज्जा में हुई।

उसके मुखपृष्ठ पर जो नामकरण संस्कार का चित्र प्रकाशित करवाया है वह चित्र श्रीयुत् सत्यानन्द जी मुञ्जाल के पौत्र का है। उसकी कड़ी बन गये श्रीयुत् योगेश जी मुञ्जाल एवं उनकी धर्मपत्नी हर्ष जी मुञ्जाल का है। उनके घर में नित्य अग्निहोत्र और वेदपाठ होता ही है। घर में यज्ञशाला बनी ही है। प्रतिदिन उसमें श्रीयुत् योगेशजी के पुत्र (नीरज) एवं पुत्रवधु (चारु) बैठते हैं। और उनकी गोदी में नवकुसुम की भाँति हंसता-खेलता शिशु (यजन) रहता है। मैंने यही उचित समझा कि इन्हीं को बैठाकर नामकरण का दृश्य उपस्थित कर दिया जाए। वही 'नामसर्वस्व' ग्रन्थ का मुखपृष्ठ बना है।

मैं श्री योगेश जी मुञ्जाल के घर पर २४ सितम्बर, २००० से ११ फरवरी, २००१ (लगभग पाँच महीने) तक रहा हूँ, उसके लिये मैं क्या आभार प्रकट करूँ। उनके द्वारा की गई प्रत्येक सेवा को मैं वेद सेवा में दी जा रही आहुति मानता हूँ जो कि सर्वत्र सुगन्धि बनकर लोगों को हर्षित करेगी। जिससे हर्ष नाम सार्थक हो सकेगा।

नामावली:—पाठक वृन्द एवं कुछ विद्वत् समुदाय का आग्रह है कि मैं ग्रन्थ के अन्त में नामों की सूची भी दूँ। मैं उनके आग्रह को नहीं टाल सक रहा हूँ, इसलिये कुछ नामों की सूची दे दी है। नामों की सूची देने की आवश्यकता मैंने इसलिये नहीं समझी थी कि विद्वद्वर्य पं० सत्यानन्द वेदवागीश जी ने "नामनिधिः" नामक ग्रन्थ की रचना की है। इससे पाठकवृन्द यथामति लाभ उठा सकते हैं।

किमधिकं विज्ञेषु

दीक्षानन्द सरस्वती

विषय-सूची

क्र०सं०	विषय	पृ०

क्र०सं०	विषय	पृ०

—०—

प्राक्कथन

प्रथमा संस्कृतिर् विश्ववारा:

जिस प्रकार आज मनुष्य के चहुँ ओर उसके भौतिक जीवन से, तदर्थ बाह्य आवरण से सम्बद्ध पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कारों का साम्राज्य दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार प्राचीनकाल में मनुष्य के आत्मिक जीवन से या यूँ कहें कि— आन्तर् जीवन से सम्बद्ध संस्कृति और संस्कारों का एक साम्राज्य था। उसके लिए पृथक् से एक अंग का ऊहन हुआ था, जिसे कल्प-शास्त्र कहते हैं। सर्वप्रथम जिस व्यक्ति के निर्माणार्थ उन्होंने संस्कारों की रचना की, उसकी संस्कृति को पल्लवित और पुष्पित किया, वे उसकी प्रकृति से परिचित थे। उसका निर्माण किसकी अनुकृति में होना है, उस आकृति का उन्हें परिज्ञान था। वे फल को देखकर जान लेते थे कि कहाँ इसमें विकार आ गया है। वे बीज की प्रकृति से परिचित थे। वे मनोविज्ञान के वेत्ता, आयुर्विज्ञान के ज्ञाता, आकृतिविज्ञान के बोद्धा, प्राणविज्ञान एवं योगविज्ञान के द्रष्टा थे।

उन्होंने गहन विचार करके पुरुष की संस्कृति के अनुरूप षोडश संस्कारों की योजना बनाई थी। विश्व के इतिहास में व्यक्ति के निर्माण की इस प्रकार की मनोवैज्ञानिक योजनाएँ कहीं अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होतीं। यदि कहीं कुछ दृष्टिगोचर भी होती हैं तो वे सब इसी की विकृत धाराएँ हैं। यह गौरव तो आर्यों को ही प्राप्त है कि उनकी संस्कृति विश्व की सर्वप्रथम संस्कृति है—"**सा प्रथमा संस्कृतिर् विश्ववारा: ।**[१]"

---

१. यजुर्वेद ७-१४

उस संस्कृति की एक विशेषता यह है कि वह अखिल विश्व के लिए **वरणीय** है। उसकी अपनी विशेषता ही ऐसी है कि उसे हर कोई वरण कर सकता है। दूसरी विशेषता है उसकी **प्रथन**-सामर्थ्य—वह **प्रथमा** है, वह विस्तारसामर्थ्यवाली है। उसका निर्माण इस प्रकार हुआ है कि कोई अंश छूट नहीं पाया है। जो भी चाहे उसमें से अपने अनुरूप ग्राह्य वस्तु ले सकता है। वह **प्रथमा** है, यही उसके लिए विशेष है; कोई गुण ऐसा नहीं कि जो इसमें नहीं। अत: इस पर आधारित संस्कारों पर विचार करने के लिए गहन अन्वेषण की आवश्यकता है।

संस्कारों की संख्या सोलह ही क्यों?

संस्कार की व्याख्या करने से पूर्व यह विचार करना अत्यावश्यक होगा कि संस्कारों की संख्या १६ ही क्यों रखी गई? कम या अधिक क्यों नहीं? क्या इन्हें कम या अधिक नहीं किया जा सकता? हमारा तो यही विचार है कि इनमें से न एक घटाया जा सकता है और न इसमें एक बढ़ाया जा सकता है। इसकी १६ संख्या सकारण है, सहैतुक है, साधार है।

पूर्णता की परिचायक—

किसी व्यक्ति की पूर्णता की परिचायक उसकी कलाएँ मानी जाती हैं। चन्द्रवंशी श्री कृष्ण यदि पूर्ण माने जाते हैं, तो अपनी षोडश कलाओं के कारण; सूर्यवंशी राम यदि पूर्ण माने जाते हैं तो सूर्य की बारह राशियों के कारण। यही कारण है कि संस्कृतसाहित्य में **सकल** शब्द पूर्णता अथवा **कृत्स्नता** अर्थ में रूढ़ हो गया है। वास्तव में तो **सकल** (स-कल) शब्द का अर्थ कलायुक्त होना है। वे कलाएँ १६ ही हैं। इसके लिए इससे प्रबल और क्या प्रमाण दिया जा सकता है कि उस

ब्रह्म तक को भी **षोडशी** कहा गया है, जिसका यह सब पसारा है—**"त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी"**।[१]

पूर्णता की द्योतक सोलह कलाएँ—

अब यह विचारणीय रह जाता है कि षोडश कलाएँ ही पूर्णता की द्योतक क्यों मानी जाएँ? इसके लिए प्रत्यक्ष दृश्य जगत् में **चन्द्र** ही ऐसा है कि शुक्ल-पक्ष में नित्य एक-एक कला का विस्तार करते-करते १६ कलाओं से युक्त हो जाता है, पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। पूर्ण विकसित चन्द्र के कारण ही उस रात्रि को **पूर्णिमा** कहते हैं। यह पूर्णता १६ कलाओं से युक्त मानी जाती है। अब आकाश में विद्यमान सूर्य और **चन्द्र** दोनों विभूतियों के बारे में कहा जा सकता है—**पूर्णमदः पूर्णमिदम्**[२]**।** वह सूर्य भी पूर्ण है, यह चन्द्र भी पूर्ण है। पिता भी पूर्ण है, और पुत्र भी पूर्ण है। हमारी तुच्छ सम्मति में षोडश संस्कारों के व्यकल्पन की आधार-पृष्ठभूमि यही है।

गृहस्थान्तरिक्ष में पुत्ररूप चन्द्र का उदय

संस्कारों की षोडश संख्या के प्रतीक चन्द्र की षोडश कलाएँ हैं। इस चन्द्र की षोडश कलाओं को षोडश संस्कारों का प्रतीक मानें, और प्रतिपदा के चन्द्र को पुत्र का, सूर्य और पृथिवी को पिता-माता का प्रतीक। विवाह संस्कार में वर के द्वारा पठित **"द्यौरहं पृथिवी त्वम्"**[३] इस बात का प्रमाण है कि पति-पत्नी गृहस्थान्तरिक्ष के सूर्य और पृथिवी हैं। उन दोनों का सम्बन्ध सूर्य और पृथिवी की भाँति अखण्ड है, अचल है, और पुत्र दोनों की प्रतिच्छाया है। पुत्र-चन्द्र पिता-सूर्य से अपना प्रकाश ग्रहण करता है, माता-पृथिवी की कुक्षि

---

१. यजुः० ३२.५ २. उपनिषद् शान्तिपाठः

३. पार० गृह्य० का० १, कं० ६.३

से देह प्राप्त करता है। जातकर्म संस्कार में पिता प्रथम बार पुत्र-दर्शन करके मन्त्र पढ़ता है—**वेद ते भूमि हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदाहं तन्मा विद्यात्।**[१] **यत् पृथिव्या अनामृतं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदामृतस्याहं नाम माहं पौत्रमघं रिषम्।**[२] एवं च **यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयं श्रितम्। तदहं विद्वाँस्तत् पश्यन् माहं पौत्रमघं रुदम्।**[३] इन प्रमाणों के रहते हुए इस स्थापना का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता कि षोडश संस्कारों का आधार चन्द्र की षोडश कलाएँ हैं। वैदिक कल्पना यह है कि पुत्ररूप चन्द्र में एक-एक कला का विस्तार करते हुए उसे सकल-कलायुक्त बना देना।

सोलह संस्कार—

वैदिक मनीषियों के किसी भी क्रिया-कलाप में उसकी महत्ता के दर्शन होते हैं। उसके **पुरुषार्थ-चतुष्टय, वर्ण-चतुष्टय, आश्रम-चतुष्टय, पञ्चमहायज्ञ, वार्षिक पर्व** एवं **षोडश संस्कार** जिस पर भी विचार करो तो उसके पीछे विज्ञान है, दर्शन है, जिससे उसी की दिव्य आभा प्रकट होती है। जितना-जितना गहराई में पैठते हैं, उतने ही अमूल्य रत्न प्राप्त होते हैं। षोडश संस्कारों का भी अपना ही महत्त्व है। उनकी षोडश संख्या षोडश कला की ओर सङ्केत है। षोडश-संस्कार पुरुष को पूर्ण बना देते हैं। जिस प्रकार आकाश में उदित चन्द्र षोडश कलाओं से पूर्ण है, उसी प्रकार गृहस्थ-अन्तरिक्ष में उदित पुत्ररूप चन्द्र षोडश कलाओं से युक्त हो। हमने सोलह संस्कारों के पीछे सोलह कलाओं का दर्शन किया है—**प्रजनन-कला** से आरम्भ कर **मरण-कला** पर्यन्त सोलह-कलाएँ इस प्रकार हैं—

---

१. पार० गृह्य० १.१६ २. मन्त्र ब्रा० १.५.१०

३. मन्त्र ब्रा० १.५.१३

१. प्रजनन, २. सवन, ३. उन्नयन, ४. सं-वेदन, ५. नामन्, ६. निष्क्रमण, ७. अशन, ८. संवपन, ९. श्रवण, १०. उपनयन, ११. वेदन, १२. समावर्त्तन, १३. विवहन, १४. संवनन, १५. संन्यसन, १६. मरण।

नाम का महत्त्व—

दार्शनिकों की एक प्रसिद्ध उक्ति है कि यह जगत् नामरूपात्मक है—"**नामरूपात्मकं जगत्**"।[1] यह तो सम्भव है कि किसी वस्तु का रूप न हो, परन्तु यह कदापि सम्भव नहीं कि वस्तु हो और उसका नाम न हो। नाम के अभाव में पारस्परिक व्यवहार समाप्त हो जाता है। संवाद का मूल 'नाम' ही तो है। स्वयं भगवती श्रुति ने कहा है—"**नाम नाम्ना जोहवीति**"।[2] यही कारण है कि वैदिक षोडश संस्कारों में नामकरण को प्रमुखता दी गई है। रूपात्मकता के लिए जातकर्म संस्कार का विधान है जो कि चौथा संस्कार है और वह बालक का हो चुका है। अब समय आया नामकरण का, जो कि पाँचवाँ संस्कार है।

नाम-महिमा—

नाम किसी भी पदार्थ का हो, व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र का, उसका उच्चारण करते ही व्यक्ति, समाज और राष्ट्र गर्व का, गौरव का अनुभव करने लगते हैं। आर्य संज्ञा इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है। आर्य शब्द में न जाने कौन-सा जादू है कि नाम लेते ही गर्व का अनुभव होने लगता है। जर्मन देश का एकछत्र शासक हिटलर बड़े अभिमान से अपने को आर्य, जर्मन-जाति को आर्य-जाति और जर्मन-राष्ट्र को आर्य-राष्ट्र कहता था। यह अभिमान कितना अतिक्रमण कर गया

---

१. सरस्वती उप० २३ २. अथर्ववेद १०.७.३१

था कि वह सदा यही कहता था—विश्व पर आर्य-जाति का ही एकछत्र राज्य होना चाहिये, अतः उसने जर्मन राष्ट्र से यहूदी जाति को चुन-चुन, गिन-गिनकर निकाल दिया। जर्मन देश के विश्वप्रसिद्ध वैज्ञानिक अणु बम के आविष्कर्ता आइन्स्टीन को जर्मन देश से इसलिए निकाल दिया, क्योंकि वह यहूदी था।

श्रीकृष्ण का उद्बोधन—

श्रीकृष्ण अर्जुन को इसी नाम की दुहाई देकर प्रोत्साहित करते हैं कि यदि तू युद्धभूमि से भाग खड़ा होगा तो तुझे लोग अनार्य कहेंगे और यह तेरे नाम पर कलङ्क होगा—'**अनार्य जुष्टं अस्वर्ग्यम् अकीर्तिकरम् अर्जुन।**'[१] भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सार्थक और गौरवपूर्ण नामों से याद किया है। भारतवर्ष के इतिहास में नारियाँ अपने पति को '**आर्यपुत्र**' कहकर सम्बोधित करती थीं।

नाम के प्रति उदासीनता—

महाभारत-युद्ध के पश्चात् जहाँ हम समाज, राज्य, राष्ट्र के प्रति उदासीन हो गए, वहाँ नाम के प्रति भी उदासीन हो गए थे। परिणामतः व्यक्ति जिस मास में पैदा हुआ, जिस वार में पैदा हुआ, जिस स्थान में पैदा हुआ, उसी के नाम पर व्यक्ति का नाम रख दिया गया। प्रायः करके मल, दास और राम शब्द पीछे जोड़ दिये गए—चैत्र में पैदा होनेवाले को चेतामल, वैशाख में पैदा होनेवाले को बैसाखीमल, जेठ में पैदा होनेवाले को जेठामल इत्यादि। यही हाल वारों का भी है। मङ्गल और बुधवार को पैदा हुए बच्चों का नाम मङ्गलाराम और बुद्धराम सुना गया है। यह प्रसिद्ध घटना है कि महर्षि

---

१. भगवद्गीता २.२

दयानन्द के पास जब एक व्यक्ति कुछ निवेदन करने आया तो महर्षि ने उसका नाम पूछा। महर्षि के पूछते ही व्यक्ति ने कुछ झिझकते हुए कहा कि महाराज, मुझे कूड़ामल कहते हैं। महर्षि ने भी मनोरञ्जक उपहास करते हुए पूछ लिया—क्यों भाई, कूड़े में कुछ कमी थी जो उस पर मल और रख दिया? इसी बात ने महर्षि को प्रेरित किया और उन्होंने संस्कारविधि में उत्तम नामों के रखने का विधान किया। संस्कारविधि के अन्तर्गत नामकरण संस्कार में इसकी ओर निर्देश किया।

नाम की यथार्थता—

एक राजा के पास एक बिल्ला था। उसने उसका नाम सिंह रख छोड़ा था। एक दिन रानी ने कहा—राजन्! सिंह से श्रेष्ठ तो बादल हैं, स्वर्ग तक उनकी पहुँच रहती है। राजा ने बिल्ले का नाम बादल रख दिया। किन्तु युवराज को नहीं भाया—महाराज! बादल से बलवान् तो वायु होता है। बात राजा को भी पसन्द आई और उसका नाम वायु रख दिया। मगर मन्त्री ने कहा—महाराज! वायु से बलवान् तो दीवार होती है; चाहे जैसा वायु हो, दीवार उसे रोक लेती है। इस पर सेनापति ने कहा—क्षमा करें महाराज! दीवार से तो चूहा बलवान् होता है, वह दीवार में छेद कर देता है। आप इसका नाम चूहा रखिए। इस पर विदूषक क्यों पीछे रहता? उसने कहा—स्वामिन्! चूहे से तो बिल्ला बलवान् होता है; मेरी राय में आप इसका नाम बिल्ला रखिए। कथा का संकेत मार्मिक है अर्थात् व्यक्तित्व मत ओढ़ो! जो हो, वही रहो। तुम्हारा अपना रूप ठीक ही तुम्हें प्रकाशित करेगा, महिमामय पराया नाम नहीं। *(चीनी त्रिपिटक से)*

सत्यकथा—

पुराकाल में तक्षशिला में आचार्य बोधिसत्त्व ५०० शिष्यों

को वेद पढ़ाते थे। उनमें एक शिष्य था जिसका नाम **पापक** था। उसने आचार्य से कहा कि—मेरा नाम अमांगलिक है, कृपया नाम परिवर्तन कर दीजिए यतः नाम ही में सब सिद्धियाँ हैं। पापक की इस प्रार्थना को सुन आचार्य ने कहा—जाओ पापक, तुम्हें जो नाम शोभन लगे वही खोजकर ले आओ, मैं उसी नाम से तुम्हें पुकारूँगा। प्रिय बन्धुओ! यह पापक घूमता हुआ एक नगर में पहुँचा। वहाँ बहुत जन-समूह था। इसने सोचा—इनसे पूछने पर अवश्य अच्छा नाम मिल जाएगा। थोड़ी देर बाद उसने कुछ व्यक्ति देखे जो अपने कन्धे पर एक शव को उठाए लिये जा रहे थे। पापक ने पूछा—बन्धु, इस मृत-बन्धु का क्या नाम था? उसके सम्बन्धियों ने उत्तर दिया। इसका नाम **जीवक** था। सुनकर **पापक** विचार में पड़ गया कि क्या जीवक भी मर सकता है?

आगे बढ़कर क्या देखता है कि एक राजभवन के प्रांगण में एक नारी को रस्सियों से पीटा जा रहा है। उसकी नग्न पीठ रक्त-रञ्जित हो रही है। यह देखकर पापक स्तब्ध रह गया। संतप्त होकर उसने पूछा—क्यों मारते हो? क्या क़सूर है? इस पर प्रहारक रुक गए; बोले—यह हमारी दासी है। नाम इसका धनपाली है। इस पर पापक फिर स्तब्ध रह गया; बोला—धनपाली होकर भी दासी है? यह नहीं हो सकता। तुम लोग झूठ बोलते हो। सेवक बोले—इसमें आश्चर्य की क्या बात है? धनपाली नाम होने मात्र से दरिद्रा न हो यह आवश्यक नहीं।

तब पापक निराश हो लौट रहा था कि एक पथिक मिला। उससे पापक ने पूछा कि कहाँ जा रहे हो? पथिक बोला—यही तो पता नहीं। रास्ता भटक गया हूँ। इस पर पापक ने पूछा—भाई, तुम्हारा नाम क्या है? इस पर मुसाफिर

बोला—मुझे **पंथक** कहते हैं। फिर तो पापक और भी आश्चर्य में पड़ा कि जब पंथक नाम है तो यह मार्ग-भ्रष्ट कैसे? बहुत भटकने के पश्चात् पापक पुनः आचार्य के पास पहुँचा और कहने लगा—मेरी रुचि का नाम कहीं नहीं मिला। जीवक को मैंने मरते देखा। यहाँ तक कि पंथक को मैंने मार्ग भटकते देखा। धनपाली को मैंने दारिद्र्य के कारण दासी के रूप में दण्ड पाते देखा। गुरुदेव! नाम का तात्पर्य अब मेरी समझ में आ गया। नाम तो वास्तव में अनेक में से एक को पहचानने का साधन-मात्र है। अब मुझे दूसरे नाम की आवश्यकता नहीं। क्योंकि संसार में देखने में आया कि—

लक्ष्मी चिनोति काष्ठानि, धनपालः कृषीबलः।
मृतश्चामरसिंहोऽपि महत्त्वं नैव नामानि॥

महिला का नाम लक्ष्मी है और देखने में आया कि वह 'सायंकाल को चूल्हा कैसे जलेगा' इस चिन्ता में लकड़ियाँ बीनती फिर रही है। नाम धनपाल है, परन्तु हल जोत रहा है। नाम अमरसिंह था लेकिन वह मृत्यु को प्राप्त हो गया। इसलिए नाम का कोई महत्त्व नहीं है—**महत्त्वं नैव नामानि।**

क्या इसका यह अभिप्राय समझ लिया जाए कि कोई-सा भी नाम रख ले—शुभ या अशुभ? यह जो नामकरण में शिशु को माता की गोदी से पिता की गोदी में और पिता की गोदी से माता की गोदी में एक-दूसरे को अर्पित किया जाता है, उसका अभिप्राय है—यह माता के हाथ में है कि शिशु को नामानुकूल बनाए अथवा नाम के विरूप बनाए। माता को माता इसीलिए कहते हैं कि वह निर्माण करती है। उसकी वाणी और पाणि दोनों में ही वह जादू हो कि बालक को जैसा चाहे वैसा बना दे। इस पर एक प्राचीन सती मदालसा का पवित्र इतिहास वर्णित करते हैं।

सती मदालसा की लोरी—

शत्रुजित् महाराज के पुत्र **ऋतध्वज** का **मदालसा** से विवाह होने पर उनके जो पहली सन्तान हुई उसका नाम महाराज ने **विक्रान्त** रखा। मदालसा वह नाम सुनकर हँसने लगी। इसके बाद समयानुसार क्रमशः दो पुत्र फिर हुए। उनके नाम **सुबाहु** और **शत्रुमर्दन** रखे गए। उन नामों पर भी मदालसा को हँसी आई। इन तीन पुत्रों को उन्होंने लोरियाँ गाने के व्याज से विशुद्ध **आत्मज्ञान** का उपदेश दिया। बड़े होने पर वे तीनों पुत्र ममता-शून्य और विरक्त हो गए। मदालसा के उपदेश का सारांश इस प्रकार है—

१. **शुद्धोसि रे तात् न तेस्ति नाम, कृतं हि ते कल्पनयाऽधुनैव।**
पञ्चात्मकं देहमिदं न तेऽस्ति, नैवास्य तं रोदिषि कस्य हेतोः ॥

२. **न वा भवान् रोदिति वै स्वजन्मा, शब्दोऽयमासाद्य महीशसूनुम्।**
विकल्प्यमाना विविधा गुणास्ते, अगुणाश्च भौता सकलेन्द्रियेषु ॥

३. **भूतानि भूतैः परिदुर्बलानि, वृद्धिं समायान्ति यथेह पुंसः।**
अन्नाम्बुदानादिभिरेव कस्य, न तेऽस्ति वृद्धिर्न च तेऽस्ति हानिः ॥

हे तात! तू शुद्ध आत्मा है, तेरा कोई नाम नहीं है, यह कल्पित नाम तो तुझे अभी मिला है। यह शरीर भी पाँच भूतों का बना हुआ है। न यह तेरा है, न तू इसका है, फिर किसलिए रो रहा है? अथवा तू नहीं रोता है, यह शब्द तो राजकुमार के पास पहुँचकर अपने-आप ही प्रकट होता है। तेरी सम्पूर्ण इन्द्रियों में जो भाँति-भाँति के गुण-अवगुणों की कल्पना होती है, वे भी पाँचभौतिक ही हैं। तू तो विशुद्ध आत्मा है। इनसे आत्मा की न तो वृद्धि होती है और न ही हानि होती है।

त्वं कञ्चुके शीर्यमाणे निजेऽस्मिन् तस्मिश्च देहे मूढतां मा व्रजेथाः।
शुभाशुभैः कर्मभिर्देहमेतन्मदादिमूढैः कञ्चुकस्ते पिनद्धः ॥

तातेति किञ्चित् तनयेति किञ्चित् अम्बेति किञ्चित् दयितेति किञ्चित्।
ममेति किञ्चित् न ममेति किञ्चित् त्वं भूतसङ्घं बहुमानयेथाः ॥
दुःखानि दुःखोपगाय भोगान्, सुखाय जानाति विमूढचेता।
तान्येव दुःखानि पुनः सुखानि, जानाति विद्वान् न विमूढचेता ॥

तू अपने इस चोले तथा देहरूपी चोले के जीर्ण-शीर्ण होने पर तू मोह न करना। शुभाशुभ कर्मों के अनुसार यह देह प्राप्त हुआ है। तेरा यह चोला मद आदि से बँधा हुआ है। कोई जीव पिता के रूप में प्रसिद्ध है, कोई पुत्र कहलाता है, किसी को माता और किसी को प्यारी स्त्री कहते हैं। कोई 'यह मेरा है' कहकर अपनाया जाता है और कोई 'मेरा नहीं है' इस भाव से पराया माना जाता है। इस प्रकार ये प्राणि-समुदाय के ही नाना रूप हैं, ऐसा तुझे मानना चाहिए। यद्यपि सब भोग परिणामतः दुःखरूप हैं, तथापि मूढचित्त मानव उन्हें सुख की प्राप्ति करानेवाला समझता है; किन्तु जो विद्वान् हैं, जिनका चित्त मोह से आच्छन्न नहीं हुआ है, वे उन भोग-जनित सुखों को भी दुःख ही मानते हैं।

तत्पश्चात् रानी मदालसा के गर्भ से चौथा पुत्र उत्पन्न हुआ। जब राजा उसका नामकरण करने लगे तो उसकी दृष्टि मदालसा पर पड़ी। वह मन्द-मन्द मुस्करा रही थी। राजा ने कहा—मैं नाम रखता हूँ तो तुम हँसती हो। अब इस पुत्र का नाम तुम्हीं रखो। मदालसा ने कहा—जैसी आपकी आज्ञा। आपके चौथे पुत्र का नाम मैं '**अलर्क**' रखती हूँ। यह अद्‌भुत नाम सुनकर राजा ठहाका मारकर हँस पड़े और बोले—इसका क्या अर्थ है? मदालसा ने उत्तर दिया—सुनिये! नाम से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। संसार का व्यवहार चलाने के लिए कोई-सा नाम कल्पना करने के लिए रख दिया जाता है। वह संज्ञामात्र है, इसका कोई अर्थ नहीं। आपने भी जो नाम रखे

हैं वे भी 'निरर्थक' हैं। पहले 'विक्रान्त' नाम के अर्थ पर विचार कीजिए। क्रान्ति का अर्थ है गति। जो एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है, वही **विक्रान्त** है। आत्मा नित्य है, अतः यह नाम उसके लिए निरर्थक तो है ही, स्वरूप के विपरीत भी है। आपने दूसरे पुत्र का नाम '**सुबाहु**' रखा। जब आत्मा निराकार है तो उसे बाँह कहाँ से मिली? जब बाँह ही नहीं है तो **सुबाहु** नाम रखना कितना असंगत है! तीसरे पुत्र का नाम '**शत्रुमर्दन**' रखा गया है! उसकी भी कोई सार्थकता नहीं दिखाई देती। सब शरीरों में एक-सा आत्मा रम गया है; ऐसी दशा में कौन किसका शत्रु है, और कौन किसका मर्दन करनेवाला। यदि व्यवहार का निर्वाह-मात्र ही उसका प्रयोजन है तब तो '**अलर्क**' नाम से भी इस उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है।

राजा निरुत्तर हो गए। मदालसा ने उसको भी ब्रह्मज्ञान का उपदेश सुनाना शुरू कर दिया। तब राजा ने रोककर कहा—देवि! इसे भी ज्ञान का उपदेश देकर मेरी वंश-परम्परा का उच्छेद करने पर क्यों तुली हो? इसे प्रवृत्ति-मार्ग में लगाओ और उसके अनुकूल ही उपदेश दो। मदालसा ने पति की आज्ञा मान ली। तदनुसार अलर्क को बचपन में ही व्यवहार-शास्त्र का पण्डित बना दिया। उसे राजनीति का पूर्ण ज्ञान कराया। धर्म, अर्थ और काम तीनों शास्त्रों में वह प्रवीण बन गया। बड़ा होने पर माता-पिता ने अलर्क को एक अँगूठी दी और कहा—जब तुम पर कोई संकट पड़े तो इस अँगूठी के छिद्र से उपदेश-पत्र निकालकर पढ़ना और इसके अनुसार कार्य करना। अलर्क ने गंगा-यमुना के संगम पर—अपनी अलर्कपुरी नाम की राजधानी बनाई, जो आजकल अरैल के नाम से प्रसिद्ध है। कुछ काल के बाद अलर्क को भोगों में

आसक्त देख उनके बड़े भाई 'सुबाहु' ने काशिराज की सहायता से उसपर आक्रमण किया। अलर्क ने संकट जानकर माता का उपदेश पढ़ा। उसमें लिखा था—

संगः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत् त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः स कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम्॥
कामः सर्वात्मना हेयो हातुं चेच्छक्यते न स।
मुमुक्षां प्रति तत्कार्यं सैव तस्यापि भेषजम्॥

संग (आसक्ति) का सब प्रकार से त्याग करना चाहिए। किन्तु यदि उसका त्याग न किया जा सके तो सत्पुरुषों का संग करना चाहिए, क्योंकि सत्पुरुषों का संग ही उसकी ओषधि है। कामना को सर्वथा छोड़ देना चाहिए, परन्तु यदि वह छोड़ी न जा सके तो मुमुक्षा (मोक्ष की इच्छा) के प्रति कामना करनी चाहिए, क्योंकि मुमुक्षा ही उस कामना को मिटाने की दवा है।

इस उपदेश को अनेक बार पढ़कर राजा ने सोचा— मनुष्य का कल्याण कैसे होगा? मुक्ति की इच्छा जाग्रत होगी सत्सङ्ग से। ऐसा विचार कर अलर्क ने महात्मा दत्तात्रेय जी की शरण ली और वहाँ ममता-रहित विशुद्ध आत्मज्ञान का उपदेश पाकर वे सदा के लिए कृतार्थ हो गए। इस प्रकार महासती मदालसा ने अपने पुत्रों का उद्धार करके स्वयं भी पति के साथ परमात्म-चिन्तन में मन लगाया और थोड़े ही समय में मोक्षस्वरूप परमपद प्राप्त कर लिया। मदालसा अब इस लोक में नहीं है, किन्तु उनका नाम सदा के लिए अमर हो गया।

अन्वर्थनाम

नाम का क्या महत्व है? इस पर एक प्राचीन इतिहास का उल्लेख करते हैं। वह इतिहास माता कुन्ती ने श्रीकृष्ण के माध्यम से अपने पुत्रों तक पहुँचाया था। माता कुन्ती ने भी

श्री कृष्ण को यही कहा था कि मैं इस पर एक प्राचीन इतिहास सुनाती हूँ जो कि, माता विदुला और पुत्र संजय के मध्य हुआ। सिन्धुराज से पराजित हुआ हतोत्साहित, निराश, युद्ध से विमुख संजय शस्त्र गिराकर बैठा है। माता विदुला अपने पुत्र को उत्साहित करने के लिए उसके नाम को आधार बनाकर कहती है—

संजयो नामतश्च त्वं, न च पश्यामि तत् त्वयि।
अन्वर्थनामा भव मे पुत्र! मा व्यर्थनामकः॥[१]

तेरा नाम संजय है रे! मैं वह गुण तेरे में नहीं पाती। अपने नाम के अनुरूप विजय प्राप्त कर। अपने नाम को तू व्यर्थ मत गँवा।

माता की प्रेरणा से विदुला का इकलौता बेटा युद्ध के लिए तत्पर हुआ और विजय प्राप्त करके लौटा। पाठकवृन्द! नीचे की पंक्तियों में उसी के इतिहास को पढ़ेंगे। इस इतिहास को माता कुन्ती ने अपने पाँचों पुत्रों के प्रति कहलवाया और अन्त में कहा—इस इतिहास के कारण ही महाभारत-इतिहास का नाम **जय** पड़ा। महाभारत में हर पर्व के आरम्भ में यह मंगलाचरण श्लोक आज भी बोला जाता है—

नारायणं नमस्कृत्यं नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीञ्चैव ततो जयम् उदीरयेत्॥[२]

कुन्ती बोली—शत्रुओं को संताप देनेवाले श्रीकृष्ण! इस प्रसंग में विद्वान् पुरुष विदुला और उसके पुत्र के संवादरूप इस पुरातन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं।

इसमें विदुला और उसके पुत्र का संवाद है। विदुला

---

१. महाभारत—उद्योगपर्व १३४.७

२. महाभारत में प्रत्येक पर्व का आदिश्लोक।

क्षत्राणी थी। वह बड़ी यशस्विनी, तेज:स्वभाववाली, कुलीना, संयमशीला और दीर्घदर्शिनी थी। राजसभाओं में उसकी अच्छी ख्याति थी और शास्त्र का भी उसे अच्छा ज्ञान था। एक बार उसका औरस पुत्र सिन्धुराज से परास्त होकर बड़ी दीन दशा में पड़ा हुआ था। उस समय उसने उसे फटकारते हुए कहा, अरे अप्रियदर्शी! तू मेरा पुत्र नहीं है और न तूने अपने पिता के वीर्य से ही जन्म लिया है। तू तो शत्रुओं का आनन्द बढ़ानेवाला है। तुझमें ज़रा भी आत्माभिमान नहीं है, इसलिये क्षत्रियों में तो तू गिना ही नहीं जा सकता। तेरे अवयव और बुद्धि आदि भी नपुंसकों-से हैं। अरे! प्राण रहते तू निराश हो गया? यदि तू कल्याण चाहता है तो युद्ध का भार उठा! तू अपने आत्मा का निरादर न कर और अपने मन को स्वस्थ करके भय को त्याग दे। कायर! खड़ा हो जा। हार खाकर पड़ा मत रह।

इस प्रकार तो तू अपना मान खोकर शत्रुओं को आनन्दित कर रहा है। इससे तेरे सुहृदों का तो शोक बढ़ रहा है। देख, प्राण जाने की नौबत आ जाय तो भी पराक्रम नहीं छोड़ना चाहिये। जैसे बाज़ नि:शंक होकर आकाश में उड़ता रहता है, वैसे ही तू भी रणभूमि में निर्भय विचर। इस समय तो तू इस प्रकार पड़ा है, जैसे कोई बिजली का मारा हुआ मुर्दा हो। बस, तू खड़ा हो जा; शत्रुओं से हार खाकर पड़ा मत रह। तू साम, दाम और भेदरूप मध्यम, अधम और नीच उपायों का आश्रय मत ले। दण्ड ही सर्वश्रेष्ठ है। उसीका आश्रय लेकर शत्रु के सामने डटकर गर्जना कर। वीर पुरुष रणभूमि में जाकर उच्चकोटि का मानवोचित पराक्रम दिखाकर अपने धर्म से उऋण होता है। वह अपनी निन्दा नहीं करता। विद्वान् पुरुष, फल मिले या न मिले, इसके लिए चिन्ता नहीं करता।

वह तो निरन्तर पुरुषार्थसाध्य कर्म करता रहता है। उसे अपने लिए धन की भी इच्छा नहीं होती। तू या तो अपना पुरुषार्थ बढ़ाकर जय लाभ कर, नहीं तो वीरगति को प्राप्त हो जा।

इस प्रकार धर्म को पीठ दिखाकर किसलिये जी रहा है? अरे नपुंसक! इस तरह तो तेरे इष्ट-पूर्त आदि कर्म और सुयश—सभी मिट्टी में मिल गए हैं तथा तेरे भोग का साधन जो राज्य था, वह भी नष्ट हो गया है; फिर तू किसलिये जी रहा है?

दान, तप, सत्य, विद्या और धनसंग्रह का प्रसङ्ग चलने पर जिस पुरुष का सुयश नहीं गाया जाता, वह तो अपनी माता की विष्ठा ही है। सच्चा मर्द तो वही है जो अपनी विद्या, तप, ऐश्वर्य और पराक्रम से दूसरे लोगों को दंग कर देता है। तुझे भिक्षावृत्ति की ओर नहीं ताकना चाहिये। वह तो अकीर्तिकारिणी, दु:खदायिनी और कायरों के काम की है। अरे सञ्जय! मालूम होता है, पुत्ररूप से मैंने कलियुग को ही जन्म दिया है। तुझमें जरा भी स्वाभिमान, उत्साह या पुरुषार्थ नहीं है। तुझे देखकर शत्रुओं को ही सुख होता है। कोई भी कामिनी ऐसे कुपुत्र को उत्पन्न न करे। जो अपने हृदय को लोहे के समान करके राज्य और धनादि की खोज करता है और शत्रुओं के सामने डटा रहता है, वही पुरुष है।

जो स्त्रियों की तरह किसी प्रकार अपना पेट पाल लेता है, उसे 'पुरुष' कहना व्यर्थ ही है। यदि शूरवीर, तेजस्वी, बली और सिंह के समान पराक्रम करनेवाला राजा वीरगति पा जाता है, तो भी उसके राज्य में प्रजा को प्रसन्नता ही होती है। जिस प्रकार सभी प्राणियों की जीविका मेघ के अधीन है, उसी प्रकार ब्राह्मण लोग तथा तेरे सुहृदों की जीविका तुझ पर ही निर्भर होनी चाहिये।

जा, किसी पर्वतीय किले में जाकर रह और शत्रु के ऊपर आपत्काल आने की प्रतीक्षा कर। वह अजर-अमर तो है ही नहीं। बेटा! तेरा नाम तो सञ्जय है, किन्तु मुझे तुझमें ऐसा कोई गुण दिखाई नहीं देता! तू संग्राम में जय प्राप्त करके अपने नाम को सार्थक कर। जब तू बालक था, उस समय एक भूत-भविष्य को जाननेवाले बुद्धिमान् ब्राह्मण ने तुझे देखकर कहा था कि 'यह एक बार बड़ी भारी विपत्ति में पड़कर फिर उन्नति करेगा।' उस बात को याद करके मुझे तेरी विजय की पूरी आशा है, इसी से मैं तुझसे कह रही हूँ और फिर भी बराबर कहती रहूँगी।

शम्बर मुनि का कथन है कि जहाँ 'आज भोजन नहीं है, न कल के लिए ही कोई प्रबन्ध है'—ऐसी चिन्ता रहती है, उससे बढ़कर बुरी कोई दशा नहीं हो सकती। जब तू देखेगा कि आजीविका न रहने से तेरे काम-काज करनेवाले दास, सेवक, आचार्य, ऋत्विज् और पुरोहित तुझे छोड़कर चले गए हैं तो तेरा वह जीवन किस काम का होगा? पहले मैंने या मेरे पति ने कभी किसी ब्राह्मण से 'नहीं' नहीं कहा। अब यदि मुझे 'नहीं' कहना पड़ा तो मैं प्राण त्याग दूँगी। देख, यदि तूने जीवन का लोभ न किया तो तेरे सभी शत्रु परास्त किये जा सकते हैं। तू युवा है तथा विद्या, कुल और रूप से सम्पन्न है। यदि तुझ-जैसा यशस्वी और जगद्विख्यात पुरुष ऐसा विपरीत आचरण करे और अपने कर्तव्य-भार को न उठावे तो मैं उसे मृत्यु ही समझती हूँ। यदि मैं तुझे शत्रु के साथ चिकनी-चुपड़ी बातें बनाते या उसके पीछे-पीछे चलते देखूँगी तो मेरे हृदय को कैसे शान्ति होगी? इस कुल में ऐसा कोई पुरुष नहीं जन्मा, जो अपने शत्रु का पिछलग्गू होकर रहा हो।

भैया! तुझे शत्रु का सेवक होकर जीना किसी प्रकार उचित नहीं है। जिस पुरुष ने क्षत्रियकुल में जन्म लिया है

और जिसे क्षात्रधर्म का ज्ञान है, वह भय से अथवा आजीविका के लिए कभी किसी के सामने नहीं झुक सकता। वह महामना वीर तो मतवाले हाथी के समान रणभूमि में विचरता है और केवल धर्मरक्षा के लिए सर्वदा ब्राह्मण के सामने ही झुकता है।''

पुत्र कहने लगा—माँ! तुम वीरों की-सी बुद्धिवाली, किन्तु बड़ी ही निठुर और क्रोध करनेवाली हो। तुम्हारा हृदय तो मानो लोहे का ही गढ़कर बनाया गया है। अहो! क्षत्रियों का धर्म बड़ा ही कठिन है, जिसके कारण स्वयं तुम्हीं दूसरे की माता के समान अथवा जैसे किसी दूसरे से कह रही हो, इस प्रकार मुझे युद्ध के लिए उत्साहित कर रही हो। मैं तो तुम्हारा इकलौता पुत्र हूँ, फिर भी तुम मुझसे ऐसी बात कह रही हो? जब तुम मुझी को नहीं देखोगी तो इस पृथ्वी, गहने, भोग और जीवन से भी तुम्हें क्या सुख होगा? फिर तुम्हारा अत्यन्त प्रिय पुत्र मैं तो संग्राम में काम आ जाऊँगा।

माता ने कहा—सञ्जय! समझदारों की सब अवस्थाएँ धर्म या अर्थ के लिए ही होती हैं। उनपर दृष्टि रखकर ही मैं तुझे युद्ध के लिए उत्साहित कर रही हूँ। यह तेरे लिए कोई दर्शनीय कर्म करके दिखाने का समय आया है। इस अवसर पर यदि तूने कुछ पराक्रम न दिखाया तथा अपने शरीर या शत्रु के प्रति कड़ाई से काम न लिया तो तेरा बड़ा तिरस्कार होगा। इस तरह जब तेरे अपयश का अवसर सिर पर नाच रहा है, उस समय यदि मैं तुझसे कुछ न कहूँ तो लोग मेरे प्रेम को गधी का-सा कहेंगे तथा उसे सामर्थ्यहीन और निष्कारण बतावेंगे। अतः तू सत्पुरुषों से निन्दित तथा मूर्खों से सेवित मार्ग को छोड़ दे। जिसका आश्रय प्रजा ने ले रक्खा है, वह उन्हें निराश्रित छोड़कर युद्ध से विमुख हो—यह तो बड़ी भारी अविद्या ही है।

मुझे तो तू तभी प्रिय लगेगा, जब तेरा आचरण सत्पुरुषों के योग्य होगा। जो पुरुष विनयहीन, शत्रुपर चढ़ाई न करनेवाले, दुष्ट और दुर्बुद्धि पुत्र या पौत्र को पाकर भी सुख मानता है, उसका संतान पाना व्यर्थ है। जो अपना कर्त्तव्यकर्म नहीं करते बल्कि निन्दनीय कर्म का आचरण करते हैं, उन अधम पुरुषों को तो न इस लोक में सुख मिलता है और न परलोक में ही। प्रजापति ने क्षत्रियों को तो युद्ध करने और विजय प्राप्त करने के लिए ही रचा है। युद्ध में जय या मृत्यु प्राप्त करने से क्षत्रिय इन्द्रलोक प्राप्त कर लेता है। शत्रुओं को वश में करके क्षत्रिय जिस सुख का अनुभव करता है, वह तो इन्द्रभवन या स्वर्ग में भी नहीं है।

पुत्र बोला—माताजी! यह ठीक है, किन्तु तुम्हें अपने पुत्र के प्रति तो ऐसी बातें नहीं कहनी चाहियें। उस पर जड़ और मूकवत् होकर तुम्हें दयादृष्टि ही रखनी चाहिये।

माता ने कहा—बेटा! जिस प्रकार तू मुझे मेरा कर्तव्य बता रहा है, उसी प्रकार मैं तुझे तेरा कर्तव्य सुझा रही हूँ। जब तू सिन्धु देश के सब योद्धाओं का संहार कर डालेगा, तभी मैं तेरी प्रशंसा करूँगी। मैं तो तेरी कठिनता से प्राप्त होनेवाली विजय ही देखना चाहती हूँ।

पुत्र ने कहा—माताजी! मेरे पास न तो ख़ज़ाना है और न कोई सहायक ही है; फिर मेरी जय कैसे होगी? इस विकट परिस्थिति का विचार करके मैं तो स्वयं ही राज्य की आशा छोड़ बैठा हूँ, ठीक वैसे ही जैसे पापी पुरुष स्वर्गप्राप्ति की आशा नहीं रखता। यदि इस स्थिति में भी तुम्हें कोई उपाय दिखाई देता हो तो मुझे बताओ; मैं, जैसा तुम कहोगी, वैसा ही करूँगा।

माता बोली—बेटा! यदि आरम्भ से ही अपने पास वैभव न हो तो इसके लिए अपना तिरस्कार न कर। ये धन-सम्पत्ति

पहले न होकर पीछे हो जाते हैं तथा होकर नष्ट हो जाते हैं। अत: डाहवश किसी भी प्रकार से अर्थ-संग्रह की ही नादानी नहीं करनी चाहिये। उसके लिए तो बुद्धिमान् पुरुष को धर्मानुसार ही प्रयत्न करना चाहिये। कर्मों के फल के साथ तो सदा ही अनित्यता लगी हुई है। कभी उनका फल मिलता है और कभी नहीं मिलता, तो भी मतिमान् पुरुष कर्म किया ही करते हैं। जो कर्म ही नहीं करते, उन्हें तो कभी फल नहीं मिल सकता।

अत: प्रत्येक मनुष्य को यह निश्चय रखकर कि 'मेरा अभीष्ट कर्म सिद्ध होगा ही' उसे करने के लिए खड़ा हो जाना चाहिये, सावधान रहना चाहिये और ऐश्वर्य-प्राप्ति के कामों में जुटे रहना चाहिये। कर्म में प्रवृत्त होते समय पुरुष को माङ्गलिक कर्म करने चाहियें तथा ब्राह्मण और देवताओं का पूजन करना चाहिये। ऐसा करने से राजा की उन्नति होती है। जो लोग लोभी, शत्रु के द्वारा दलित और अपमानित तथा उससे डाह करनेवाले हैं, उन्हें तू अपने पक्ष में कर ले। ऐसा करने से तू अपने बहुत-से शत्रुओं का नाश कर सकेगा। उन्हें पहले ही से वेतन दे, रोज़ सवेरे ही उठ और सबके साथ प्रियभाषण कर। ऐसा करने से वे अवश्य तेरा प्रिय करेंगे। जब शत्रु को यह मालूम हो जाता है कि मेरा प्रतिपक्षी प्राणपण से युद्ध करेगा तो उसका उत्साह ढीला पड़ जाता है।

कैसी भी आपत्ति आने पर राजा को घबराना नहीं चाहिये। यदि घबराहट हो भी तो घबराए हुए के समान आचरण नहीं करना चाहिये। राजा को भयभीत देखकर प्रजा, सेना और मन्त्री भी डरकर अपना विचार बदल लेते हैं। उनमें से कोई तो शत्रुओं से मिल जाते हैं, कोई छोड़कर चले जाते हैं और कोई, जिनका पहले अपमान किया होता है, राज्य छीनने को तैयार हो जाते हैं। उस समय केवल वे ही लोग साथ देते हैं,

जो उसके गहरे मित्र होते हैं; किन्तु हितैषी होने पर भी शक्तिहीन होने के कारण वे कुछ कर नहीं पाते।

मैं तेरे पुरुषार्थ और बुद्धिबल को जानना चाहती थी, इसी से मैंने तेरा उत्साह बढ़ाने के लिए तुझसे ये आश्वासन की बातें कही हैं। यदि तुझे ऐसा मालूम होता है कि मैं ठीक कह रही हूँ तो विजय प्राप्त करने के लिए कमर कसकर खड़ा हो जा। हमारे पास अभी बड़ा भारी ख़ज़ाना है। उसे मैं ही जानती हूँ, और किसी को उसका पता नहीं है। वह मैं तुझे सौंपती हूँ। सञ्जय! अभी तो तेरे सैकड़ों सुहृद् हैं। वे सभी सुख-दुःख को सहन करनेवाले और संग्राम में पीठ न दिखानेवाले हैं।

राजा सञ्जय छोटे मन का आदमी था। किन्तु माता के ऐसे वचन सुनकर उसका मोह नष्ट हो गया। उसने कहा—'मेरा यह राज्य शत्रुरूप जल में डूब गया है; अब मुझे इसका उद्धार करना है, नहीं तो मैं रणभूमि में प्राण दे दूँगा। अहा! मुझे भावी वैभव का दर्शन करानेवाली तुम-जैसी पथ-प्रदर्शिका माता मिली है तो फिर मुझे क्या चिन्ता है? मैं बराबर तुम्हारी बातें सुनना चाहता था, इसीसे बीच-बीच में कुछ कहकर फिर मौन हो जाता था। तुम्हारे अमृत के समान वचन बड़ी कठिनता से सुनने को मिले थे। उनसे मुझे तृप्ति नहीं होती थी। अब मैं शत्रुओं का दमन करने और जय प्राप्त करने के लिए अपने बन्धुओं के सहित चढ़ाई करता हूँ।'

आज्ञानुसार उसने सब काम किये। यह आख्यान बड़ा उत्साहवर्धक और तेज की वृद्धि करनेवाला है। जब कोई राजा शत्रु से पीड़ित होकर कष्ट पा रहा हो, उस समय मन्त्री उसे यह प्रसंग सुनावे। इस इतिहास को सुनने से गर्भवती स्त्री निश्चय ही वीर पुत्र उत्पन्न करती है। यदि क्षत्राणी इसे सुनती है तो उसकी कोख से विद्याशूर, तपःशूर, तेजस्वी, बलवान्,

धैर्यवान्, अजेय, विजयी, दुष्टों का दमन करनेवाला, साधुओं का रक्षक, धर्मात्मा और सच्चा शूरवीर पुत्र उत्पन्न होता है।

केशव! तुम अर्जुन से कहना कि 'तेरा जन्म होने के समय मुझे यह आकाशवाणी हुई थी कि 'कुन्ती! तेरा यह पुत्र इन्द्र के समान होगा। यह भीमसेन के साथ रहकर युद्धस्थल में आए हुए सभी कौरवों को जीत लेगा और अपने शत्रुओं को व्याकुल कर देगा। यह सारी पृथ्वी को अपने अधीन कर लेगा और इसका यश स्वर्गलोक तक फैल जायगा। श्रीकृष्ण की सहायता से यह सारे कौरवों को संग्राम में मारकर अपने खोए हुए पैतृक अंश को प्राप्त करेगा और फिर अपने भाइयों के सहित तीन अश्वमेध यज्ञ करेगा।' कृष्ण! मेरी भी ऐसी ही इच्छा है कि आकाशवाणी ने जैसा कहा था, वैसा ही हो; और यदि धर्म सत्य है तो ऐसा ही होगा भी। तुम अर्जुन और भीमसेन से यही कहना कि 'क्षत्राणियाँ जिस काम के लिए पुत्र उत्पन्न करती हैं, उसे करने का समय आ गया है।' द्रौपदी से कहना कि 'बेटी! तू अच्छे कुल में उत्पन्न हुई है। तूने मेरे सभी पुत्रों के साथ धर्मानुसार बर्ताव किया है—यह तेरे योग्य ही है।' तथा नकुल और सहदेव से कहना कि 'तुम **अपने प्राणों की भी बाज़ी** लगाकर पराक्रम से प्राप्त हुए भोगों को भोगने की इच्छा करो।'

कृष्ण! मुझे राज्य जाने, जूए में हारने या पुत्रों को वनवास होने का दुःख नहीं है; किन्तु मेरी युवती पुत्रवधू ने सभा में रुदन करते हुए जो दुर्योधन के कुवचन सुने थे, वे ही मुझे बड़ा दुःख दे रहे हैं। वे भीम और अर्जुन के लिए तो बड़े ही अपमानजनक थे। तुम उन्हें उनकी याद दिला देना। फिर द्रौपदी, पाण्डव तथा उनके पुत्रों से मेरी ओर से कुशल पूछना और उन्हें बार-बार मेरी कुशल सुना देना। अब तुम जाओ, मेरे पुत्रों को रक्षा करते रहना। तुम्हारा मार्ग निर्विघ्न हो!

अथ नामकरणसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

अत्र प्रमाणम्—नाम चास्मै दद्युः ॥ १ ॥

घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थमभिनिष्ठानान्तं द्व्यक्षरम् ॥ २ ॥

चतुरक्षरं वा ॥ ३ ॥

द्व्यक्षरं प्रतिष्ठाकामश्चतुरक्षरं ब्रह्मवर्चसकामः ॥ ४ ॥

युग्मानि त्वेव पुंसाम् ॥ ५ ॥

अयुजानि स्त्रीणाम् ॥ ६ ॥

अभिवादनीय च समीक्षेत तन्मातापितरौ

विदध्यातामोपनयनात् ॥ ७ ॥ —इत्याश्वलायनगृह्यसूत्रेषु ॥

दशम्यामुत्थाप्य पिता नाम करोति—द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थं दीर्घाभिनिष्ठानान्तं कृतं कुर्यान्न तद्धितम्, अयुजाक्षरमाकारान्तꣳ स्त्रियै। शर्म ब्राह्मणस्य वर्म क्षत्रियस्य गुप्तेति वैश्यस्य ॥

इसी प्रकार गोभिलीय और शौनकगृह्यसूत्र में भी लिखा है ॥

नामकरण अर्थात् जन्मे हुए बालक का सुन्दर नाम धरे।

नामकरण का काल—जिस दिन जन्म हो उस दिन से लेके १० दिन छोड़ ग्यारहवें वा एक सौ एकवें अथवा दूसरे वर्ष के आरम्भ में जिस दिन जन्म हुआ हो, नाम धरे।

जिस दिन नाम धरना हो उस दिन अति प्रसन्नता [से] इष्ट-मित्र, हितैषी लोगों को बुला यथावत् सत्कार कर क्रिया का आरम्भ यजमान—बालक का पिता और ऋत्विज करें।

पुनः पृष्ठ ९-३४ में लिखे प्रमाणे सब मनुष्य **ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण** और सामान्य प्रकरणस्थ सम्पूर्ण विधि करके **आघारावाज्यभागाहुति** ४ चार और **व्याहृति आहुति** ४ चार और पृष्ठ ३४-३५ में लिखे प्रमाणे **(त्वन्नो अग्ने०)** इत्यादि आठ मन्त्रों से ८ आठ आहुति, अर्थात् सब मिलाके १६ घृताहुति करें।

तत्पश्चात् बालक को शुद्ध [जल से] स्नान करा, शुद्ध वस्त्र पहनाके उसकी माता कुण्ड के समीप बालक के पिता के पीछे से आ दक्षिणभाग में होकर बालक का मस्तक उत्तर दिशा में रखके बालक के पिता के हाथ में देवे और स्त्री पुनः उसी प्रकार पति के पीछे होकर उत्तरभाग में पूर्वाभिमुख बैठे। तत्पश्चात् पिता उस बालक को उत्तर में शिर और दक्षिण में पग करके अपनी पत्नी को देवे। पश्चात् जो उसी संस्कार के लिए कर्त्तव्य हो, उस प्रथम प्रधानहोम को करे। पूर्वोक्त प्रकार घृत और सब शाकल्य सिद्ध कर रक्खे। उसमें से प्रथम घी का चमचा भरके—

ओम् प्रजापतये स्वाहा॥

इस मन्त्र से एक आहुति देकर पीछे जिस तिथि, जिस नक्षत्र में बालक का जन्म हुआ हो उस तिथि और उस नक्षत्र का नाम लेके उस तिथि और उस नक्षत्र के देवता के नाम से ४ चार आहुति देनी, अर्थात् एक तिथि, दूसरी तिथि के देवता, तीसरी नक्षत्र और चौथी नक्षत्र के देवता के नाम से, अर्थात् तिथि, नक्षत्र और उनके देवताओं के नाम के अन्त में चतुर्थी विभक्ति का रूप और स्वाहान्त बोलके ४ चार घी की आहुति देवे। जैसे किसी का जन्म प्रतिपदा और अश्विनी नक्षत्र में हुआ हो तो—

ओं प्रतिपदे स्वाहा। ओं ब्रह्मणे स्वाहा। ओम् अश्विन्यै स्वाहा। ओम् अश्विभ्यां स्वाहा *॥

तत्पश्चात् पृष्ठ ३३ में लिखी हुई **स्विष्टकृत्-मन्त्र** से एक आहुति और पृष्ठ ३३ में लिखे प्रमाणे ४ चार **व्याहृति** आहुति दोनों मिलके पाँच आहुति देके तत्पश्चात् माता बालक को लेके शुभ आसन पर बैठे और पिता बालक के नासिका-द्वार से बाहर निकलते हुए वायु का स्पर्श करके—

कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि।
यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम।
भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याꣳ सुवीरो
वीरैः सुपोषः पोषैः॥ —अ० ७। मं० २९॥

ओम् कोऽसि कतमोऽस्येषोऽस्यमृतोऽसि।
आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ॥

जो यह "असौ" पद है इसके स्थान में बालक का ठहराया हुआ नाम अर्थात् जो पुत्र हो तो नीचे लिखे प्रमाणे

---

* **तिथिदेवताः**—१. ब्रह्मन्। २. त्वष्टृ। ३. विष्णु। ४. यम। ५. सोम। ६. कुमार। ७. मुनि। ८. वसु। ९. शिव। १०. धर्म। ११. रुद्र। १२. वायु। १३. काम। १४. अनन्त। १५. विश्वेदेव। ३०. पितर।

नक्षत्रदेवताः—अश्विनी—अश्वी। भरणी—यम। कृत्तिका—अग्नि। रोहिणी—प्रजापति। मृगशीर्ष—सोम। आर्द्रा—रुद्र। पुनर्वसु— अदिति। पुष्य—बृहस्पति। आश्लेषा—सर्प। मघा—पितृ। पूर्वा-फाल्गुनी—भग। उत्तराफाल्गुनी—अर्यमन्। हस्त—सवितृ। चित्रा— त्वष्टृ। स्वाति—वायु। विशाखा—इन्द्राग्नी। अनुराधा—मित्र। ज्येष्ठा— इन्द्र। मूल—निर्ऋति। पूर्वाषाढा—अप्। उत्तराषाढा—विश्वेदेव। श्रवण—विष्णु। धनिष्ठा—वसु। शतभिषज्—वरुण। पूर्वाभाद्रपदा— अजपाद्। उत्तराभाद्रपदा—अहिर्बुध्न्य। रेवती—पूषन्॥

दो अक्षर का वा चार अक्षर का, घोषसंज्ञक और अन्तःस्थ वर्ण अर्थात् पाँचों वर्गों के दो-दो अक्षर छोड़के तीसरा, चौथा, पाँचवाँ और य र ल व—ये चार वर्ण नाम में अवश्य आवें*।

जैसे—देव अथवा जयदेव। ब्राह्मण हो तो देवशर्मा, क्षत्रिय हो तो देववर्मा, वैश्य हो तो देवगुप्त और शूद्र हो तो देवदास इत्यादि और जो स्त्री हो तो एक, तीन वा पाँच अक्षर का नाम रक्खे—श्री, ह्री, यशोदा, सुखदा, सौभाग्यप्रदा इत्यादि। नामों को प्रसिद्ध बोलके, पुनः **"असौ"** पद के स्थान में बालक का नाम धरके पुनः **(ओम् कोऽसि०)** ऊपर लिखित मन्त्र बोलना।

---

* ग, घ, ङ, ज, झ, ञ, ड, ढ, ण, द, ध, न, ब, भ, म—ये स्पर्श और य, र, ल, व—ये चार अन्तःस्थ और ह एक ऊष्मा, इतने अक्षर नाम में होने चाहिएँ और स्वरों में से कोई भी स्वर हो। जैसे—भद्रः, भद्रसेनः, देवदत्तः, भवः, भवनाथः, नागदेवः, रुद्रदत्तः, हरिदेवः इत्यादि। पुरुषों का समाक्षर नाम रखना चाहिए तथा स्त्रियों का विषमाक्षर नाम रक्खें। अन्त्य में दीर्घ स्वर और तद्धितान्त भी होवे—जैसे—श्रीः ह्रीः, यशोदा, सुखदा, गान्धारी, सौभाग्यवती, कल्याणक्रोडा इत्यादि, परन्तु स्त्रियों के इस प्रकार के नाम कभी न रक्खें, उसमें प्रमाण—

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम्॥ —मनुस्मृतौ।

(ऋक्ष) रोहिणी, रेवती इत्यादि, (वृक्ष) चम्पा, तुलसी इत्यादि, (नदी) गङ्गा, यमुना, सरस्वती इत्यादि, (अन्त्य) चाण्डाली इत्यादि, (पर्वत) विन्ध्याचला, हिमालया इत्यादि, (पक्षी) कोकिला, हंसा इत्यादि, (अहि) सर्पिणी, नागी इत्यादि, (प्रेष्य) दासी, किङ्करी इत्यादि, (भयंकर) भीमा, भयंकरी, चण्डिका इत्यादि नाम निषिद्ध हैं।

ओं स त्वाह्ने परिददात्वहस्त्वा रात्र्यै परिददातु रात्रिस्त्वा-होरात्राभ्यां परिददात्वहोरात्रौ त्वार्द्धमासेभ्यः परिदत्तामर्द्धमा-सास्त्वा मासेभ्यः परिददतु मासास्त्वर्तुभ्यः परिददत्वृतवस्त्वा संवत्सराय परिददतु संवत्सरस्त्वायुषे जरायै परिददातु, असौ ॥

इन मन्त्रों से बालक को जैसा जातकर्म में लिख आये हैं वैसे आशीर्वाद देवें। इस प्रमाणे बालक का नाम रखके संस्कार में आये हुए मनुष्यों को वह नाम सुनाके पृष्ठ ३६-३७ में लिखे प्रमाणे **महावामदेव्य गान** करें।

तत्पश्चात् कार्यार्थ आये हुए मनुष्यों को आदर-सत्कार करके विदा करे और सब लोग जाते समय पृष्ठ ९-१२ में लिखे प्रमाणे परमेश्वर की स्तुतिप्रार्थनोपासना करके बालक को आशीर्वाद देवें कि—

''हे बालक! त्वमायुष्मान् वर्च्चस्वी तेजस्वी श्रीमान् भूयाः।''

हे बालक! आयुष्मान्, विद्यावान्, धर्मात्मा, यशस्वी, पुरुषार्थी, प्रतापी, परोपकारी, श्रीमान् हो॥

॥ इति नामकरणसंस्कारविधिः समाप्तः॥

नामकरण संस्कार

संस्कारों में नामकरण पञ्चम है। उसमें प्रमाण-भाग, विधि-भाग विद्यमान है। विधि-भाग के कुछ आवश्यक अङ्ग हैं। संस्कार की पूरी तैयारी हो जाने पर बालक का पिता यज्ञकुण्ड के पश्चिम में आ पूर्वाभिमुख हो बैठ जाता है। यज्ञ की सामान्य प्रक्रिया समाप्त होते ही माता बालक को नहला-धुलाकर अपने पति के दक्षिण-भाग में यथास्थान बैठने आती है और बालक को पति की गोदी में देते हुए जैसे ही बैठने को उद्यत होती है कि पति तत्काल कहता है—नहीं देवि, आज दक्षिण की ओर नहीं, मेरे उत्तर-भाग में रखे हुए आसन पर बैठो। ऐसा कहने पर पत्नी पति के उत्तर-भाग में रखे हुए आसन पर आ बैठती है। तब पिता अपनी गोदी में लिये बालक को पुनः उसकी माता की गोदी में उत्तर की ओर सिर रखकर दे देता है।

यज्ञवेदी पर बिछे आसन—

सर्वप्रथम यज्ञवेदी पर पश्चिम में बिछे आसनों पर ही एक दृष्टि डाल लें। यजमान पश्चिम में पूर्वाभिमुख हो मध्यासन पर विराजमान है, उसकी दाहिनी ओर यजमान-पत्नी। बाईं ओर होता अथवा पुरोहित विराजमान है। इन तीन व्यक्तियों को माता, पिता और आचार्य का प्रतिनिधि मान लिया जाय तो शतपथकार की प्रसिद्ध उक्ति **'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद'** चरितार्थ होती दृष्टिगोचर होगी। बालक इन तीन गोदियों में धारित और पोषित होकर ही पुरुष बनेगा। पुरुष ही नहीं, पुरुषोत्तम बनेगा। यज्ञवेदी पर आसीन पत्नी का आसन उत् है, पति का आसन उत्तर है और पुरोहित का आसन उत्तम है। यही होगा वामन बालक का त्रिविक्रम, उत् से उत्तर और उत्तर से उत्तम। उत्तम पुरुष की उपलब्धि का

यही प्रशस्त उपाय है।

नामकरण संस्कार में दो आसनों में परिवर्तन दिखाई दिया। आज पश्चिम दिशा में तीन आसन नहीं, चार आसन बिछे हुए हैं। यजमान के दोनों ओर दो आसन खाली हैं—वामभाग में खाली आसन को छोड़कर पुरोहित जी अपने आसन पर आसीन हैं। यजमान अपने आसन पर आसीन होकर पुरोहित जी से पूछता है—आज मेरे बाईं ओर का आसन किस लिए है ? उत्तर में पुरोहित जी कहते हैं—बालक की माता के लिए। यजमान पूछता है—तो फिर दाहिनी ओर का आसन किसके लिए है ? तो पुनः पुरोहित जी उत्तर देते हैं—यजमान-पत्नी के लिए। जैसे ही यजमान-पत्नी ने यज्ञवेदी पर पदार्पण किया और अभ्यासवश यजमान के दक्षिण-भाग में आसीन होने लगी तो यजमान ने कहा—नहीं देवि ! आज दाईं ओर नहीं, बाईं ओर बैठो ! देवी ने आदेश का पालन करते हुए पतिदेव के उत्तर की ओर बैठते हुए पूछ ही लिया कि पतिदेव ! आज उत्तर की ओर क्यों ? पति ने भी मुस्कान-भरे शब्दों में कहा—देवि ! तुम्हें पता नहीं तुम आज मुझसे उत्तर हो गई हो, आज तुम्हारा स्थान उत्तर है. आज तुम बालक को गोद में लेकर मातृत्व को प्राप्त हो चुकी हो। तुम्हारी मातृत्व-संज्ञा ही यह गौरव प्रदान करती है कि आज तुम समाज में पुरुष से उत्तर हो गई हो। माता के रूप में नारी सदैव मान्या है, पूज्या है, अतः उसके प्रतीक-स्वरूप, मैं तुम्हें वह गौरव प्रदान करता हूँ। जब तुम पत्नी के रूप में विराजोगी, तब तुम्हारा आसन दाहिनी ओर होगा और स्थिति उत् होगी। जब माता के रूप में विराजोगी तो तुम्हारा आसन मेरे से उत्तर होगा और स्थिति उत्तर होगी। हमारे-तुम्हारे आसन बदलते रहेंगे और उसी हिसाब से बालक की गोद भी बदलती रहेगी।

कभी पिता की गोद में तो कभी माता की गोद में, कभी पिता की लोरी और कभी माँ की लोरी। उद्देश्य एक ही होगा कि बालक उत् से उत्तर बने।

आचार्य का प्रतिनिधि—

सुनो देवि! तुम्हारे बाएँ हाथ में बिछा आसन पुरोहित जी का है, जो आचार्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनका आसन स्थिर है, उसमें परिवर्तन नहीं होगा; अन्ततः बालक को आचार्य की गोदी में जाना ही होगा, नहीं-नहीं, गोदी में ही नहीं अपितु आचार्य के उदर में जाना होगा। तब बालक का दूसरा जन्म होगा। दूसरा जन्म होने पर ही बालक उत्तर से उत्तम बन पाएगा और आचार्य उसके वर्णानुरूप कोई भी एक नाम दे-देंगे—शर्म, वर्म, मर्म, अथवा धर्म।

नासिकाग्र-स्पर्श और चिरन्तन प्रश्न—

देखो देवि! पुरोहित जी क्या प्रक्रिया करा रहे हैं, इस पर ध्यान केन्द्रित करें। तुमने देखा और सुना कि पुरोहित जी ने कहा—प्रिय यजमान! माता की गोदी में लेटे हुए बालक के नथुने पर हाथ रखो, और जो कुछ मैं बुलवाऊँ उसे बोलो। पुरोहित जी ने बुलवाया—**कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि। यस्य ते नाम आमन्महि॥**[१]

देवि! क्या तुमने समझा कि इसका क्या रहस्य है? क्यों नथुनों पर हाथ रखा और क्यों यह प्रश्न-गर्भित मन्त्र पढ़ा गया? यदि तुम समझती हो तो इस प्रक्रिया के माध्यम से हमारे दायित्व और कर्त्तव्य का निर्देश किया गया है। देवि! तुमको पता नहीं यह प्रक्रिया पहले भी हो चुकी है—जैसे ही तुमने पुत्र को जन्म दिया था तो धाया ने नहला-धुला-साफ

---

१. यजुर्वेद ७.२९

करके मेरी गोदी में दे दिया था। तुम अनुमान कर सकती हो मुझे उस समय कितनी प्रसन्नता हुई थी। क्योंकि मैंने पुत्र-रूप में अपने को पाया था, अपनी छवि को देखा था, निहारा था। मेरे मुख से सहसा निकला था **वेदोऽसि।** ऐ पुत्र, तू क्या मिल गया मेरा अपना-आपा मिल गया—"**अङ्गादङ्गाद् संभवसि हृदयादधि जायसे वेदो वै पुत्र नामासि त्वं जीव शरदः शतम्।**"[1] और अपने हृदय से लगाकर और माथे को सूँघा था और उसके कान में कहा था **वेदोऽसि।** उसके साथ ही कहा था **कोऽसि कतमोऽसि एषोऽसि अमृतोऽसि**[2]**।** आज भी उसी की पुनरावृत्ति हो रही है।

नथुना स्पर्श करने की पहेली—

तुमने देखा कि पुरोहित जी ने नथुने को स्पर्श करने के लिए कहा और पश्चात् मन्त्र बुलवाया। क्या नथुना स्पर्श कराने की पहेली समझ में आई?

मन्त्र का, शब्द का, ध्वनि का सम्बन्ध तो कान से है, न कि नाक से, फिर भी पुरोहित जी ने नाक पर हाथ रखवाकर इस मन्त्र का उच्चारण क्यों करवाया? इस बात को समझ लो और गाँठ बाँध लो। हमारे परिवार में आए हुए नये जीव को उद्बोधन है—हे पुत्र-नाम से बुलाए जाने वाले आत्मन्! इस चोले को धारण करने के पश्चात् एक-एक श्वास का मूल्य है। इतर योनियों से मनुष्य-योनि में यही अन्तर है। इस योनि में रहकर एक-एक श्वास का महत्त्व है। इनके रहते-रहते ऐ बेटा! कुछ करो न करो, परन्तु इन चार चिरन्तन प्रश्नों का उत्तर अवश्य ढूँढ लो—**तुम कौन हो, तुम्हारी स्थिति क्या है? तुम किसके हो? तुम्हारा क्या नाम**

---

१. मन्त्रब्रा० १ २. मन्त्रब्रा० १.१५.१४

है? इस प्रकार हे देवि! हम दोनों का दायित्व है कि आचार्य की गोदी में देने से पहले इन चिरन्तन प्रश्नों के उत्तर हृदयङ्गम कर-करा लें, जिससे कि हर चौराहे पर हमारा पुत्र इन प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ हो सके, चिरन्तन प्रश्न किये जाने पर हमारा पुत्र स्वाभिमान से उत्तर दे सके। जानती हो यही चार प्रश्न चिरन्तन हैं—अति सामान्य भी, अति गम्भीर भी।

हम सभी चौराहे पर खड़े हैं—

कोई भी बालक जब अपने माता-पिता के हाथों से छूटकर बड़ी भीड़ में खो जाता है और चौराहे पर आकुल-व्याकुल होकर माँ-माँ पुकारने लगता है तो हर कोई पूछता है—बेटे! बताओ तुम कौन हो? बहिन-भाइयों में तुम कौन-से स्थान पर हो? बड़े हो, मँझले या छोटे? और रहने दो, तुम यही बता दो कि तुम किसके हो और तुम्हारा क्या नाम है? देवि! वास्तविकता तो यह है कि हम सभी जीव परम पिता की अंगुली छोड़ बैठे हैं और इस संसार के चौराहे पर आकुल-व्याकुल हो भटक रहे हैं। हमारे सामने भी यही प्रश्न हैं—**तुम कौन हो? तुम्हारा क्या दर्जा है? तुम किसके हो?** और **तुम्हारा क्या नाम है?** जैसे ही हम उत्तर देने में समर्थ हुए कि हमें हमारे पिता के पास पहुँचा दिया; अन्यथा तो भटकना ही भटकना है। इसीलिए हम आज पुत्र का नामकरण कर रहे हैं कि कम से कम वह अपना नाम तो बता सके। आओ, कोई अच्छा-सा नाम चुनकर इसका नामकरण करें और सदैव उसका व्यवहार करें। तुमने एक बात देखी कि अभी नाम रखा नहीं गया और पूछा जा रहा है **को नामासि?** कैसी विडम्बना है! नहीं-नहीं, यह आज नहीं, जब इसने पहला श्वास लिया था तब उसका उत्तर पहले ही कह दिया था **एषोऽसि, अमृतोऽसि, वेदोऽसि।** तू यह है, तू अमृत है।

यदि कोई तुझसे प्रश्न करे कि तू कौन है, तो उसका सहज उत्तर देना होगा—'**अहं वेदोऽस्मि**', '**अहं एषोऽस्मि**', '**अहं अमृतोऽस्मि**'। बालक को शरीर-रूप में प्रत्यक्ष देखकर पिता कह रहा है—ऐ लोगो! ऐ बन्धुओ! मेरी गोदी में पड़ा हुआ शिशु **एषोऽसि** यह है। इसे देखो, यह मेरे अङ्ग-अङ्ग का सार है, मेरे हृदय का एक टुकड़ा है, मैंने अपने प्राणों से इसके प्राण का सिञ्चन किया है, यह यथार्थ है। आप कुछ भी समझें, यह बहुत बड़ी उपलब्धि है। ऐ पुत्र! जिसे बन्धु-बान्धव, इष्ट-मित्र पुत्र कहकर बुला रहे हैं वास्तव में वह मेरा अपना-आपा है। इसके साथ-साथ तुझे यह भी आशीर्वाद देता हूँ कि—**एषोऽसि** तू यह है, **अमृतोऽसि** तू अमृत है, तू मरणधर्मा नहीं है।

आशीर्वचनों में पहले **वेदोऽसि** को मनोमय की दृष्टि से देखें। **एषोऽसि** आशीर्वचन को अन्नमय की दृष्टि से देखें और **अमृतोऽसि** को प्राणमय की दृष्टि से देखें तो हमें नामकरण की सार्थकता स्पष्ट दृष्टिगोचर होगी। यही बालक युवा होकर उत्तर देगा—**अहं वेदोऽस्मि, अहं एषोऽस्मि, अहं अमृतोऽस्मि।** पिताश्री! मुझे आशीर्वाद देते हुए आपने ही तो कहा था—**भूस्त्वयि दधामि, भुवस्त्वयि दधामि, स्वस्त्वयि दधामि। भूः भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि**[१]—हे प्रिय पुत्र! मैं तुझमें भूः भुवः स्वः सब-कुछ धारित करा रहा हूँ। इस प्रकार पिता का यह कथन इङ्गित कर रहा है कि इस चोले में आते ही तुम तीन ऋणों में आबद्ध हो गए हो। देखना, तुमको ऋणमुक्त होना होगा। **भूस् त्वयि दधामि** से **मातृऋण, भुवस्त्वयि दधामि** से **पितृऋण, स्वस्त्वयि दधामि** से **देवऋण** को समझ लेना। तुम भी कभी जब गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करोगे

---

१. पार० गृह्य कां० १, कं० १६, सूत्र ४

और इसी भाँति अपने पुत्र को गोदी में लोगे तो यही कहोगे। यदि तुम आश्रम-मर्यादा का पालन करते हुए तीन आश्रमों का अतिक्रमण करके संन्यास ग्रहण करोगे तो कहोगे—**भूः संन्यस्तं मया, भुवः संन्यस्तं मया, स्वः संन्यस्तं मया।** मैंने भी सत्पात्रों को देखकर त्रिविध योग्तयाओं को सम्यक् न्यास कर दिया है, **सत्सु+न्यासः** अथवा **सम्यक् न्यासः** से मैं त्रिविध ऋणों से मुक्त हो गया हूँ।

वेदोऽसि, एषोऽसि, अमृतोऽसि—

जातकर्म-संस्कार में बालक के कान में कहा गया—**वेदोऽसि।** गुप्तनाम और आशीर्वाद रूप में कहे गए—**एषोऽसि, अमृतोऽसि आहस्पत्यं मासं प्रविश**—तीनों ही वाक्य विभिन्न अपेक्षाओं से बालक के ही नाम हैं। शरीर की अपेक्षा से बालक का नाम **एषोऽसि** है। **उपलब्धि, ज्ञान, विचार** और **सत्ता** की अपेक्षा से बालक का नाम **वेदोऽसि** है और आत्मा की अपेक्षा से बालक का नाम **अमृतोऽसि** है। कदाचित् बालक के विषय में शंका उठे कि यह अपने पिता के वीर्य से उत्पन्न नहीं है तो बालक की माता साहसपूर्वक बालक की ओर इङ्गित करके कहेगी—**एषोऽसि।** यदि मेरे वचन को इसके पिता अथवा समाज **शब्द प्रमाण** नहीं मान रहे तो **प्रत्यक्ष प्रमाण** तो मानना ही होगा—**एषोऽसि**—यह प्रत्यक्ष सशरीर द्वितीय पिता ही है। इस पर एक सत्य इतिहास सुनाते हैं। **भरत** की जन्मदात्री माता शकुन्तला को भरी सभा में **भरत** के पिता दुष्यन्त ने पत्नीरूप में स्वीकार करने से निषेध करते हुए शकुन्तला को आवारा स्त्री तक कह दिया तो शकुन्तला ने **भरत** की ओर इङ्गित करते हुए कहा—**एषोऽसि** यह **भरत**, पुत्र के रूप में द्वितीय दुष्यन्त है। मैंने तुमको जन्म दिया है, यह प्रत्यक्ष है। आइए, महाभारतकार के शब्दों में उस इतिहास

को पढ़ें—

शकुन्तलोपाख्यान—

राजा दुष्यन्त ने अपनी रानी और पुत्र को बुलाने के लिए जब किसी भी मनुष्य को नहीं भेजा, तब शकुन्तला चिन्तामग्न हो गई। उसके सारे अङ्ग सफ़ेद पड़ने लगे। उसके खुले हुए लम्बे केश लटक रहे थे, वस्त्र मैले हो गए थे, वह अत्यन्त दुर्बल और दीन दिखाई देती थी। शकुन्तला को इस दयनीय दशा में देखकर कण्व मुनि ने कुमार **सर्वदमन** के लिए विद्या का चिन्तन किया। इससे उस बारह वर्ष के ही बालक के हृदय में समस्त शास्त्रों और सम्पूर्ण वेदों का ज्ञान प्रकाशित हो गया।

महर्षि कण्व ने उस कुमार और उसके लोकोत्तर कर्म को देखकर शकुन्तला से कहा—**'अब इसके युवराज-पद पर अभिषिक्त होने का समय आया है।'**

'मेरी कल्याणमयी पुत्री! मेरा यह वचन सुनो। पवित्र मुस्कानवाली शकुन्तले! पतिव्रता स्त्रियों के लिए यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है, इसलिये बता रहा हूँ।'

'सती स्त्रियों के लिए सर्वप्रथम कर्त्तव्य यह है कि वे मन, वाणी, शरीर और चेष्टाओं द्वारा निरन्तर पति की सेवा करती रहें। मैंने पहले भी तुम्हें इसके लिए आदेश दिया है। तुम अपने इस व्रत का पालन करो। इस पतिव्रतोचित आचार-व्यवहार से ही विशिष्ट शोभा प्राप्त कर सकोगी।'

'वहाँ दुष्यन्तकुमार सर्वदमन को युवराज-पद पर प्रतिष्ठित देख तुम्हें बड़ी प्रसन्नता होगी। देवता, गुरु, क्षत्रिय, स्वामी तथा साधु पुरुष—इनका सङ्ग विशेष हितकर है। अतः बेटी! तुम्हें मेरा प्रिय करने की इच्छा से कुमार के साथ अवश्य अपने पति के यहाँ जाना चाहिये। मैं अपने चरणों की शपथ

दिलाकर कहता हूँ कि तुम मुझे मेरी इस आज्ञा के विपरीत कोई उत्तर न देना।'

'भद्रे! तुम्हें पूरुनन्दन दुष्यन्त के पास जाना चाहिये। वे स्वयं नहीं आ रहे हैं, ऐसा सोचकर तुमने बहुत-सा समय उनकी सेवा से दूर रहकर बिता दिया। शुचिस्मिते! अब तुम अपने हित की इच्छा से स्वयं जाकर राजा दुष्यन्त की आराधना करो।'

पुत्री से ऐसा कहकर महर्षि कण्व ने उसके पुत्र भरत को दोनों बाहों से पकड़कर अङ्क में भर लिया और उसका मस्तक सूँघकर कहा—

'वत्स! चन्द्रवंश में दुष्यन्त नाम से प्रसिद्ध एक राजा हैं। पवित्र व्रत का पालन करनेवाली यह तुम्हारी माता उन्हीं की महारानी है। यह सुन्दरी तुम्हें साथ लेकर अब पति की सेवा में जाना चाहती है। तुम वहाँ जाकर राजा को प्रणाम करके युवराज-पद प्राप्त करोगे। वे महाराज दुष्यन्त ही तुम्हारे पिता हैं। तुम सदा उनकी आज्ञा के अधीन रहना और बाप-दादे के राज्य का प्रेमपूर्वक पालन करना।'

फिर कण्व शकुन्तला से बोले—'भामिनि! शकुन्तले! यह मेरी हितकर एवं लाभप्रद बात सुनो। पतिव्रताभाव-सम्बन्धी गुणों को छोड़कर तुम्हारे लिए और कोई कर्तव्य साध्य नहीं है। पतिव्रताओं पर सम्पूर्ण वरों को देनेवाले देवता लोग भी सन्तुष्ट रहते हैं। भामिनि! वे आपत्ति के निवारण के लिए अपने कृपा-प्रसाद का भी परिचय देंगे। शुचिस्मिते! पतिव्रता देवियाँ पति के प्रसाद से पुण्यगति को ही प्राप्त होती हैं; अशुभ गति को नहीं। अतः तुम जाकर राजा की आराधना करो।'

फिर उस बालक के बल को समझकर कण्व ने अपने शिष्यों से कहा—'तुम लोग समस्त शुभ लक्षणों से सम्मानित

मेरी पुत्री शकुन्तला और इसके पुत्र को शीघ्र ही इस घर से ले-जाकर पति के घर में पहुँचा दो।'

'स्त्रियों को अपने भाई-बन्धुओं के यहाँ अधिक दिनों तक रहना अच्छा नहीं होता। वह उनकी कीर्ति, शील तथा पतिव्रत धर्म का नाश करनेवाला होता है। अतः इसे अविलम्ब पति के घर में पहुँचा दो।'

कश्यपनन्दन कण्व ने धर्मानुसार मेरे पुत्र का बड़ा आदर किया है, यह देखकर तथा उनकी ओर से पति के घर जाने की आज्ञा पाकर शकुन्तला मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुई।

कण्व के मुख से बारम्बार '**जाओ-जाओ**' यह आदेश सुनकर पूरुनन्दन सर्वदमन ने '**तथास्तु**' कहकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की और माता से कहा—'माँ! तुम क्यों विलम्ब करती हो? चलो राजमहल चलें।'

देवी शकुन्तला से ऐसा कहकर पौरव राजकुमार ने मुनि के चरणों में मस्तक झुकाकर महात्मा राजा दुष्यन्त के यहाँ जाने का विचार किया।

शकुन्तला ने भी हाथ जोड़कर पिता को प्रणाम किया और उनकी परिक्रमा करके उस समय यह बात कही—'भगवन्! काश्यप! आप मेरे पिता हैं, यह समझकर मैंने अज्ञानवश यदि कोई कठोर या असत्य बात कह दी हो अथवा न करने योग्य या अप्रिय कार्य कर डाला हो, तो उसे आप क्षमा कर देंगे।'

शकुन्तला के ऐसा कहने पर शिर झुकाकर बैठे हुए कण्व मुनि कुछ बोल न सके। मानव-स्वभाव के अनुसार करुणा का उदय हो जाने से, नेत्रों से आँसू बहाने लगे।

महर्षि कण्व ने उन मुनियों को बुलाकर करुण भाव से कहा—'महर्षियो! यह मेरी यशस्विनी पुत्री वन में उत्पन्न हुई

और यहीं पलकर इतनी बड़ी हुई है। मैंने सदा इसे लाड़-प्यार किया है। यह कुछ नहीं जानती है। विप्रगण! तुम सब लोग इसे ऐसे मार्ग से राजा दुष्यन्त के घर ले जाओ जिसमें अधिक श्रम न हो।'

'बहुत अच्छा' कहकर वे सभी महातेजस्वी शिष्य (पुत्र-सहित) शकुन्तला को आगे करके दुष्यन्त के नगर की ओर चले।

तदनन्तर सुन्दर भौंहोंवाली शकुन्तला कमल के समान नेत्रोंवाले देवबालक के सदृश तेजस्वी पुत्र को साथ ले अपने परिचित तपोवन से चलकर महाराज दुष्यन्त के यहाँ आई।

राजा के यहाँ पहुँचकर अपने आगमन की सूचना दे, अनुमति लेकर वह उसी बालसूर्य के समान तेजस्वी पुत्र के साथ राजसभा में प्रविष्ट हुई। सब शिष्यगण राजा को महर्षि का सन्देश सुनाकर पुनः आश्रम को लौट आए और शकुन्तला न्यायपूर्वक महाराज के प्रति सम्मान का भाव प्रकट करती हुई पुत्र से बोली—

'बेटा! दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रत का पालन करनेवाले ये महाराज तुम्हारे पिता हैं; इन्हें प्रणाम करो।' पुत्र से ऐसा कहकर शकुन्तला लज्जा से मुख नीचा किये एक खम्भे का सहारा लेकर खड़ी हो गई और महाराज से बोली—'देव! प्रसन्न हों।' शकुन्तला का पुत्र भी हाथ जोड़कर राजा को प्रणाम करके उन्हीं की ओर देखने लगा। उसके नेत्र हर्ष से खिल उठे थे। राजा दुष्यन्त ने उस समय धर्मबुद्धि से कुछ विचार करते हुए ही कहा—

'सुन्दरि! यहाँ तुम्हारे आगमन का क्या उद्देश्य है? बताओ। विशेषतः उस दशा में, जब कि तुम पुत्र के साथ आई हो, मैं तुम्हारा कार्य अवश्य सिद्ध करूँगा; इसमें सन्देह नहीं।'

'महाराज! आप प्रसन्न हों। पुरुषोत्तम! मैं अपने आगमन का उद्देश्य बताती हूँ, सुनिये—यह आपका पुत्र है। इसे आप युवराज-पद पर अभिषिक्त कीजिये। महाराज! यह देवोपम कुमार आपके द्वारा मेरे गर्भ से उत्पन्न हुआ है। पुरुषोत्तम! इसके लिए आपने मेरे साथ जो शर्त कर रक्खी है, उसका पालन कीजिये।

महाभाग! आपने कण्व के आश्रम पर मेरे साथ समागम के समय पहले जो प्रतिज्ञा की थी, उसका इस समय स्मरण कीजिये।'

राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला का यह वचन सुनकर सब बातों को याद रखते हुए भी उससे इस प्रकार कहा—'दुष्ट तपस्विनि! मुझे कुछ भी याद नहीं है। तुम किसकी स्त्री हो?

तुम्हारे साथ मेरा धर्म, काम अथवा अर्थ को लेकर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुआ है, इस बात का मुझे तनिक भी स्मरण नहीं है। तुम इच्छानुसार जाओ या रहो अथवा जैसी तुम्हारी रुचि हो, वैसा करो।'

सुन्दर अङ्गवाली तपस्विनी शकुन्तला दुष्यन्त के ऐसा कहने पर लज्जित हो दुःख से बेहोश-सी हो गई और खम्भे की तरह निश्चलभाव से खड़ी रह गई।

'जो सदा असत्य से दूर रहनेवाले हैं, उन समस्त साधु पुरुषों की दृष्टि में केवल धर्म ही हितकारक है। धर्म कभी दुःखदायक नहीं होता। मनुष्य पाप करके यह समझता है कि मुझे कोई नहीं जानता, किन्तु उसका यह समझना भारी भूल है; क्योंकि सब देवता और अन्तर्यामी परमात्मा भी मनुष्य के उस पाप-पुण्य को देखते और जानते हैं।'

'सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, अन्तरिक्ष, पृथिवी, जल, हृदय, यमराज, दिन, रात, दोनों संध्याएँ और धर्म—ये सभी मनुष्य

के भले-बुरे आचार-व्यवहार को जानते हैं।'

'जिस पर हृदयस्थित कर्मसाक्षी क्षेत्रज्ञ परमात्मा सन्तुष्ट रहते हैं, सूर्य-पुत्र यमराज उसके सभी पापों को स्वयं नष्ट कर देते हैं।'

'परन्तु जिस दुरात्मा पर अन्तर्यामी सन्तुष्ट नहीं होते, यमराज उस पापी को उसके पापों का स्वयं ही दण्ड देते हैं।'

'जो स्वयं अपने आत्मा का तिरस्कार करके कुछ-का-कुछ समझता और करता है, देवता भी उसका भला नहीं कर सकते और उसका आत्मा भी उसके हित का साधन नहीं कर सकता। मैं स्वयं आपके पास आई हूँ, ऐसा समझकर मुझ पतिव्रता पत्नी का तिरस्कार न कीजिये। मैं आपके द्वारा आदर पाने योग्य हूँ और स्वयं आपके निकट आई हुई आप ही की पत्नी हूँ, तथापि आप मेरा आदर नहीं करते हैं।'

'आप किसलिये साधारण पुरुष की भाँति भरी सभा में मुझे अपमानित कर रहे हैं? मैं सूने जंगल में तो नहीं रो रही हूँ? फिर आप मेरी बात क्यों नहीं सुनते?'

'पति ही पत्नी के भीतर गर्भरूप से प्रवेश करके पुत्ररूप में जन्म लेता है। यही जाया (जन्म देनेवाली स्त्री) का जायात्व है, जिसे पुराणवेत्ता विद्वान् जानते हैं।'

'शास्त्र के ज्ञाता पुरुष के इस प्रकार जो सन्तान उत्पन्न होती है, वह सन्तति की परम्परा द्वारा अपने पहले के मरे हुए पितामहों का उद्धार कर देती है।'

'पुत्र 'पुत्' नामक नरक से पिता का त्राण करता है, इसलिये साक्षात् ब्रह्माजी ने उसे 'पुत्र' कहा है।'

'मनुष्य पुत्र से पुण्यलोकों पर विजय पाता है, पौत्र से अक्षय सुख का भागी होता है तथा पौत्र के पुत्र से प्रपितामहगण आनन्द के भागी होते हैं।'

'पत्नी के गर्भ से अपने द्वारा उत्पन्न किये हुए आत्मा को ही विद्वान् पुरुष पुत्र कहते हैं, इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह अपनी उस धर्मपत्नी को जो पुत्र की माता बन चुकी है, माता के ही समान देखे।'

'सबका अन्तरात्मा ही सदा पुत्र नाम से प्रतिपादित होता है। पिता की जैसी चाल होती है, जैसे रूप, चेष्टा, आवर्त (भँवर) और लक्षण आदि होते हैं, पुत्र में भी वैसी ही चाल और वैसे ही रूप-लक्षण आदि देखे जाते हैं। पिता के सम्पर्क से ही पुत्रों में शुभ-अशुभ शील, गुण एवं आचार आदि आते हैं।'

'पत्नी अपना आधा अङ्ग है, यह श्रुति का वचन है। वह धन, प्रजा, शरीर, लोकयात्रा, धर्म, स्वर्ग, ऋषि तथा पितर— इन सब की रक्षा करती है!'

'स्त्रियाँ पति के आत्मा के जन्म लेने का सनातन पुण्य क्षेत्र हैं। ऋषियों में भी क्या शक्ति है कि बिना स्त्री के सन्तान उत्पन्न कर सकें।'

'जब पुत्र धरती की धूल में सना हुआ पास आता और पिता के अङ्गों से लिपट जाता है, उस समय जो सुख मिलता है, उससे बढ़कर और क्या हो सकता है?'

'देखिये, आपका यह पुत्र स्वयं आपके पास आया है और प्रेमपूर्ण तिरछी चितवन से आपकी ओर देखता हुआ आपकी गोद में बैठने के लिए उत्सुक है; फिर आप किसलिये इसका तिरस्कार करते हैं? चींटियाँ भी अपने अण्डों का पालन ही करती हैं; उन्हें फोड़तीं नहीं। फिर आप धर्मज्ञ होकर भी अपने पुत्र का भरण-पोषण क्यों नहीं करते?'

'ये मेरे अपने ही अण्डे हैं' ऐसा समझकर कौए कोयल के अण्डों का भी पालन-पोषण करते हैं; फिर आप सर्वज्ञ

होकर अपने से ही उत्पन्न हुए ऐसे सुयोग्य पुत्र का सम्मान क्यों नहीं करते? लोग मलयगिरि के चन्दन को अत्यन्त शीतल बताते हैं, परन्तु गोद में सटाए हुए शिशु का स्पर्श चन्दन से भी अधिक शीतल एवं सुखद होता है।'

'अपने शिशु पुत्र को हृदय से लगा लेने पर उसका स्पर्श जितना सुखदायक जान पड़ता है, वैसा सुखद स्पर्श न तो कोमल वस्त्रों का है, न रमणीय सुन्दरियों का है और न शीतल जल का ही है।'

'मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है, चतुष्पदों (चौपायों) में गौ श्रेष्ठतम है, गौरवशाली व्यक्तियों में गुरु श्रेष्ठ हैं और स्पर्श करने योग्य वस्तुओं में पुत्र ही सबसे श्रेष्ठ है।'

'आपका यह पुत्र देखने में कितना प्यारा है! यह आपके अङ्गों से लिपटकर आपका स्पर्श करे। संसार में पुत्र के स्पर्श से बढ़कर सुखदायक स्पर्श और किसी का नहीं है।'

'पुत्रों के जातकर्म-संस्कार के समय वेदज्ञ ब्राह्मण जिस वैदिक मन्त्र-समुदाय का उच्चारण करते हैं, उसे आप भी जानते हैं।'

'उस मन्त्र-समुदाय का भाव इस प्रकार है—हे बालक! तुम मेरे अङ्ग-अङ्ग से प्रकट हुए हो; हृदय से उत्पन्न हुए हो। तुम पुत्र नाम से प्रसिद्ध मेरे आत्मा ही हो, अतः वत्स! तुम सौ वर्षों तक जीवित रहो।'

'मेरा जीवन तथा अक्षय सन्तान-परम्परा भी तुम्हारे ही अधीन है, अतः पुत्र! तुम अत्यन्त सुखी होकर सौ वर्षों तक जीवन धारण करो।'

'यह बालक आपके अङ्गों से उत्पन्न हुआ है; मानो एक पुरुष से दूसरा पुरुष प्रकट हुआ है। निर्मल सरोवर में दिखाई देनेवाले प्रतिबिम्ब की भाँति अपने द्वितीय आत्मारूप इस पुत्र

को देखिये।'

'मैं विश्वासपूर्वक कहती हूँ, यह आप ही की छाया है, **एषोऽसि, अमृतोऽसि**—यह है, अमृत है, और आप इसे हृदय से लगाकर कहिए **वेदोऽसि, एषोऽसि, अमृतोऽसि।** अपने पुत्र के शब्दों पर भी ध्यान दीजिए—वह कह रहा है, पिताश्री **अहमेषोऽस्मि, अहममृतोऽस्मि, अहं वेदोऽसि।** प्रमाणरूप में मैं यह हूँ, मैं अमृत हूँ, मैं पुत्ररूप में एक बड़ी उपलब्धि हूँ।'

'जैसे गार्हपत्य अग्नि से आहवनीय अग्नि का प्रणयन (प्राकट्य) होता है, उसी प्रकार यह बालक आपसे उत्पन्न हुआ है, मानो आप एक होकर भी अब दो रूपों में प्रकट हो गए हैं।'

जातकर्म में पिता मन्त्र पढ़ता है—'**अङ्गादङ्गाद् संस्त्रवसि हृदयादधि जायसे वेदो वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम्।**'[१] बालक का जन्म होते ही दो संज्ञाएँ स्वतः निर्मित हो गईं—पिता और पुत्र। जन्म होने से पहले न वह पिता था, न यह पुत्र—इस बात को परिवार और समाज के लोग भलीभाँति जानते हैं, परन्तु जो गुप्त नाम वेद रखा गया है उसे पिता-पुत्र के सिवाय कोई नहीं जानता। नाम-दीक्षा देते हुए गुरु शिष्य के कान में नाम सुनाता है और कहता है—इसे गुप्त रखना। सम्भवतः यह परम्परा यहीं से चली हो।

वेद-संज्ञा का रहस्य—शरीर-जन्मदाता पिता, पुत्र को आत्मोपलब्धि मानता है। पुत्र में अपने समस्त रूपों, भावनाओं, सङ्कल्पों को संक्रान्त हुआ देख सहसा मुख से निकलता है—मुझे जिसकी कामना थी, वह मिल गया! सृष्टि के आरम्भ में भी जब मानवोत्पत्ति हुई तो उनकी हृदय-गुहा में परमात्मा

---

१. मन्त्र ब्रा० १.५.१६

ने भी कहा—"**वेदोऽसि**" तू बहुत बड़ी उपलब्धि है, तू ज्ञान है, तू विचार का केन्द्र है और तेरी सत्ता है। भगवान् पाणिनि ने विद्-धातु के ये अर्थ माने हैं—विद्‌ऌ लाभे, विद् विचारणे, विद् सत्तायाम्, विद् ज्ञाने। पिता का पुत्र के कान में यह कहना कि 'तू वेद है'—इस बात का परिचायक है कि इस नाम के द्वारा नवागत जीव को बोध होना चाहिए कि वह एक उपलब्धि है, वह एक सत्ता है, वह ज्ञान है और वह विचार है। 'वेदोऽसि' नाम से जुड़ी हुई ये भावनाएँ जीवन-पर्यन्त उसको उद्बुद्ध करती रहेंगी और सदा उसके लिए विश्वास रहेंगी। उसको विश्वास होगा कि 'मैं एक सत्ता हूँ, मैं ज्ञानवान् हूँ, मैं विचारवान् हूँ और मैं उपलब्धि हूँ। मेरी इन भावनाओं पर कोई आँच न आने पाए।' वह प्रकट-नाम से कुछ अभिव्यक्ति कर सके या न, परन्तु **वेदोऽसि** इस नाम से उक्त चार भावनाओं की अभिव्यक्ति अवश्य होगी। उसके आचरण से पता चले कि वह एक नित्य सत्ता है। वह व्यक्ति ज्ञानवान् और विचारवान् है और जिस परिवार में वह आया है, उस परिवार की परम्परा को अक्षुण्ण रखने के लिए उपलब्धि है।

वेदानां सामत्रेदोऽस्मि[१]—

उपरिलिखित विद् धातु के अर्थों पर यदि गहन विचार किया जाए, तो **विद् विचारणे** से **ऋग्वेद, विद् सत्तायाम्** से **यजुर्वेद, विद्‌ऌ लाभे** से **सामवेद** और **विद् ज्ञाने** से **अथर्ववेद** ग्रहण किये जा सकते हैं, और **कोऽसि** इस प्रश्न का उत्तर है—**अहं वेदोऽस्मि**[१] 'मैं वेद हूँ'। यदि स्नातक सचमुच लाभ-निधि का स्वामी है, तो श्री कृष्ण के शब्दों में कहेगा—**वेदानां सामवेदोऽस्मि।** यदि स्नातक विचार-निधि का स्वामी हो तो

---

१. भगवद्गीता अ० १०, श्लोक ११

अग्नि ऋषि के शब्दों में कहेगा—**वेदानां ऋग्वेदोऽस्मि।** यदि स्नातक कर्म-निधि का स्वामी है, तो वायु ऋषि के शब्दों में कहेगा—**वेदानां यजुर्वेदोऽस्मि।** यदि स्नातक ज्ञान-निधि का स्वामी है तो **अङ्गिरा ऋषि** के शब्दों में कहेगा—**वेदानां अथर्ववेदोऽस्मि।** हम पहले ही लिख आए हैं कि सृष्टि के आरम्भ में आद्य स्नातकों की अन्तर्गुहा में आद्य आचार्य ने भी कहा था—**वेदोऽसि।** उसी के समाधान में उक्त ऋषियों ने बड़े विश्वास से कहा—**अहं ऋग्वेदोऽस्मि,** इत्यादि।

अहं पुरुषोत्तमोऽस्मि—

जातकर्म-संस्कार में पिता ने अपने पुत्र के कान में **वेदोऽसि** कहा—तू एक बड़ी उपलब्धि है। जहाँ तू मेरे अपने-आपे की उपलब्धि है, वहाँ तू पुरुषरूप में उपलब्धि है। शतपथकार का यह प्रसिद्ध वचन **मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद**—जो प्राणी माता, पिता और आचार्य से संस्कृत है, वह पुरुषरूप में उपलब्धि है। अतः **कोऽसि** प्रश्न का एक उत्तर होगा—**अहं पुरुषोऽस्मि**—मैं पुरुष हूँ। उसका लिङ्ग कोई भी हो, पुंल्लिङ्ग हो अथवा स्त्रीलिङ्ग, देह की संज्ञा पुरुष कहलाएगी। एक और बात—संस्कृत-व्याकरण में तीन पुरुषों का प्रयोग मिलता है, **प्रथम, मध्यम, उत्तम।** जिसके विषय में बातचीत चल रही है, वह **प्रथम पुरुष** है। जिससे बात हो रही है, वह **मध्यम पुरुष** है। जो बात कर रहा है, वह **उत्तम पुरुष** है। अतः कोई और नाम हो अथवा न हो, मानवदेह में आए हुए प्राणी का नाम **पुरुष** सिद्ध है। इस प्रकार प्रथम प्रश्न का समाधान होते ही, कि 'मैं **पुरुष** हूँ', उसके साथ ही लगा हुआ दूसरा प्रश्न है—**कतमोऽसि**—तू कौन-सा पुरुष है? तो स्वाभाविक उत्तर होगा—**अहं उत्तमोऽस्मि**—मैं उत्तम पुरुष हूँ। यदि इन दोनों पदों को बदल

दिया जाए तो नाम होगा—**पुरुषोत्तमोऽस्मि**—पुरुषों में मैं उत्तम हूँ। शिशु के बड़े होने पर उसका यह नाम सदैव प्रेरित करता रहेगा कि तुम पुरुषों में उत्तम हो, अतः हर क्षेत्र में उत्तम बनकर दिखाऊँगा।

यह बात तो सर्वविदित ही है कि व्याकरणशास्त्र में उत्तमपुरुष के लिए अस्मद् शब्द का प्रयोग होता है, जिसके प्रथमा विभक्ति के एकवचन में **अहम्** पद सिद्ध होता है। प्रथम प्रश्न का उत्तर इसी **अस्मद्** पद और **अहम्** पद में गर्भित है। यदि हम इन दोनों पदों को नैरुक्त प्रक्रिया से देखें तो **अहम्** पद के दो अर्थ होंगे। एक अर्थ होगा 'मैं वह सत्ता हूँ जिसे त्यागा नहीं जा सकता। मुझे त्यागकर इन्द्रियों का अस्तित्व नहीं रहेगा। मुझे यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मैं इन्द्र हूँ। मेरे लिए तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि मैं अ+हम् हूँ। मेरा त्याग करके तुम नहीं चल सकते।' इस पर उपनिषदों की कथा स्मरण हो आती है। वहाँ वर्णन आता है कि एक बार वाक्, चक्षु, श्रोत्रादि इन्द्रियों एवं प्राण में विवाद हो गया कि हममें कौन बड़ा है? वाणी बोली कि मैं देखती हूँ कि मेरे चले जाने पर तुम्हारा कैसे काम चलेगा। सबने कहा कि अच्छा जाकर देखो। वाणी के चले जाने पर व्यक्ति गूँगा हो गया, परन्तु व्यक्ति के काम नहीं रुके; वह संकेत से सब काम कर करा लेता था। आँखों ने कहा कि 'मैं बड़ी हूँ। मैं जा रही हूँ।' सबने कहा—'तुम जाकर देखो, तुम बड़ी नहीं हो।' उसके चले जाने पर व्यक्ति अंधा हो गया, परन्तु वह लाठी के सहारे चल लेता था। उसका निर्वाह हो जाता था। चक्षु लौट आए। उन्होंने मान लिया कि वे बड़े नहीं हैं। यही हाल नाक, कान, त्वचा का हुआ। अब प्राण ने कहा कि 'मैं इस घर को छोड़कर जा रहा हूँ।' जैसे ही उसने इस देह को त्याग

करने की बात की तो सबका दम घुटने लगा। सबने एक स्वर से कहा कि तुम बड़े हो, हम बड़े नहीं हैं। उपनिषद् के ऋषि का प्रवचन है कि जैसे मधु के छत्ते से रानी मक्खी के उठते ही सब मक्खियाँ उठ जाती हैं और रानी मक्खी के बैठते ही सब मक्खियाँ बैठ जाती हैं, ठीक उसी प्रकार इस देह में आत्मा अथवा प्राण के उठ जाने पर सब इन्द्रियाँ उठ जाती हैं और उसके बैठते ही सब बैठ जाती हैं। तद्यथा **मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठ-माने सर्वा एव प्रतिष्ठन्ते।** (—प्रश्नोपनिषद् द्वि० प्र० ४) अतः मैं बोल सकता हूँ जिसे त्यागा नहीं जा सकता। हमने नैरुक्त प्रक्रिया से 'ओहाक् त्यागे' से अहं शब्द की उत्पत्ति मानी है। जिसका नहीं त्याग किया जा सकता उस सत्ता का नाम 'अहम्' है।

मैं अ+हन्=अहननीय हूँ—

यदि हम अहं शब्द में हन् धातु को देखें तो अहं वो सत्ता है जिसका हनन नहीं किया जा सकता। इसी बात को भगवान् श्री कृष्ण ने गीता में कहा—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ १९॥
न जायते म्रियते वा कदाचिन् नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ २०॥
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ २१॥

यदि किसी व्यक्ति ने उत्तम पुरुष के वाचक अहं शब्द के अर्थ को हृदयङ्गम कर लिया है, तो उसे गीता में वर्णित लम्बे उपदेश सुनने की आवश्यकता नहीं है। वह समझ गया

---

१. भगवद्गीता अध्याय २

है कि मैं वह सत्ता हूँ जो अहननीय है। **न हन्यते हन्यमाने शरीरे**—शरीर के हनन किये जाने पर मेरा हनन नहीं किया जा सकता। मुझे त्यागा नहीं जा सकता। मैं अहम् हूँ।

अस्+मत्—अस्तित्व मुझसे है—

उत्तम पुरुष के लिए प्रयोग में आनेवाले अस्मद् शब्द को भी यदि नैरुक्त प्रक्रिया से देखा जाए और इसको दो भागों में विभाजित कर लिया जाए तो **अस्+मत्** दो पद हो जाएँगे। अस् धातु का अर्थ सत्ता है, अस्तित्व है, मत् का अर्थ है मुझसे। जीवात्मा का कथन है—केवल मेरा ही अस्तित्व नहीं, मुझसे औरों का अस्तित्व है। यहाँ तक कि ब्रह्म का अस्तित्व भी मुझसे है, प्रकृति का तो है ही। ऊपर हम उपनिषद् के वचनानुसार लिख आए हैं कि आत्मा का बोध प्रत्येक वस्तु के बोध के साथ जुड़ा हुआ है—**प्रतिबोध विदितम्।**[१] जितनी भी वस्तुओं के नाम लेकर हम परस्पर बोध कराते हैं, उसकी साक्षी मैं देता हूँ—यह वृक्ष है, यह पुष्प है, यह फल है, यह नदी है, यह पर्वत है, यह सिंह है, यह व्याघ्र है, यह गऊ है। इस प्रकार हर चीज के पीछे मेरा बोध निहित है। यहाँ तक कि ब्रह्म की सत्ता के बारे में भी मैं यह कहने का दुस्साहस कर रहा हूँ। यदि मैं नहीं तो वह पिता किसका? यदि मैं नहीं तो वह माता किसकी? यदि मैं नहीं तो वह बन्धु किसका? यदि मैं अपराधी नहीं तो वह न्यायकारी किसका? उसकी दयालुता मुझ पर ही तो है! तभी तो मैं प्रतिदिन इन शब्दों में उसे याद करता हूँ—**त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।**[२] इसी विश्वास के आधार पर मैं दूसरों

---

१. केनोपनिषद् २.४

२. अथर्व० २०.१०८.१०

को भी कहता हूँ। वह हमारा बन्धु, हमारा जनक, हमारा विधाता है—**स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।**[१] इस प्रकार मात्र मेरी ही सत्ता नहीं है, मुझसे दूसरों की सत्ता भी है। मैं अहं भी हूँ जो कि अस्मत् का रूप हूँ। जिससे बात कर रहा हूँ—आ + युष् + मत् है। इस प्रकार '**कोऽसि**' इस प्रश्न के उत्तर में उपरिलिखित समाधान किया जा सका।

चिरन्तन प्रश्न और उनका समाधान—

'**वेदोऽसि**'। इस गुप्तनाम की समाधान-भूमि पर नामकरण-संस्कारगत इन चार प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करते हैं—१. तू कौन है, २. तेरा स्थान कौन-सा है, ३. तू किसका है और ४. तेरा क्या नाम है?

यदि **कः, कतमः, कस्य** आदि प्रश्नों को अकारान्त **क** अक्षर के रूप मान लिया जाए तो इन्हीं प्रश्नों में इनका उत्तर सन्निहित है। शतपथकार का वचन है—**कः वै प्रजापतिः**[२]**।** देवों में जो प्रजापति का स्थान है वह मेरा स्थान है, मैं प्रजापति का पुत्र हूँ और मेरा नाम प्रजापति है। यदि हम कः को प्रजापति का वाचक न मानें, इन्हें प्रश्न समझें, तो इन चिरन्तन प्रश्नों का हल ढूँढना होगा। **कोऽसि** इस प्रश्न का उत्तर हमारी दृष्टि में "**अहमिन्द्रोऽस्मि**" होना चाहिए—'**मैं इन्द्र हूँ**' इसका समाधान कहीं अन्यत्र ढूँढने न जाना होगा। मेरे उपभोग के साधन चक्षु, श्रोत्र आदि की संज्ञाएँ ही मेरे इन्द्र होने का प्रमाण हैं। उनकी संज्ञा '**इन्द्रिय**' मेरे ही कारण है। यदि मैं इन्द्र न होता तो इन अवयवों को इन्द्रिय कैसे कहा

---

१. यजुर्वेद ३२.२०

२. श० ब्रा० ६-४-३-४; ७-३-१-२०

जाता? इनको इन्द्रिय कहा जाना ही मुझे इन्द्र प्रमाणित करता है। भगवान् पाणिनि मुनि ने कहा—'**इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्र-दृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रदत्तमित्ति वा**[१]'—इन्द्रिय वह है जो इन्द्र का लिङ्ग है, इन्द्र के द्वारा देखे जाने का साधन है, इन्द्र के द्वारा सेवनीय है, इन्द्र के द्वारा अपने-अपने व्यापार में प्रेरणा-प्रदत्त है और इन्द्र के द्वारा जिनकी रचना की गई है। न्यायदर्शनकार महामुनि गौतम ने आत्मा के लिङ्ग बताते हुए कहा—'**सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नज्ञानानि+आत्मनो-लिङ्गमिति**[२]' दोनों मुनियों के द्वारा बताए गए उभयविध लिङ्ग **कोऽसि** प्रश्न का समाधान है—मैं आत्मा हूँ, मैं इन्द्र हूँ। जहाँ सुख-दुःखेच्छादि लिङ्गों के द्वारा आत्मा का बोध होता है, वहाँ इन्द्रियों द्वारा इन्द्र का बोध होता है। अब किसी प्रकार का सन्देह न रहा कि मैं कौन हूँ। इसका निश्चयात्मक समाधान हो गया कि मैं इन्द्र हूँ।

अहमेषोऽस्मि अहमिन्द्रोऽस्मि—

जैसाकि अभी हम नामकरण-संस्कारगत चिरन्तन प्रश्नों पर विचार करते हुए अन्तिम प्रश्न '**को नामासि**' पर समाधान प्रस्तुत कर रहे थे—'**अहं इन्द्रोऽस्मि**'—मैं **इन्द्र** हूँ, इस पर उपनिषदों में एक रोचक गाथा आती है। दो व्यक्ति परस्पर बैठे हुए विचार कर रहे थे। पहले ने दूसरे से पूछा—आप कौन हैं? आप अपना परिचय दें। दूसरा बोला—यह प्रश्न ही अयुक्त है। जो कुछ हूँ वह तुम्हारे सामने दिख रहा हूँ। पहले ने कहा—जो कुछ दिख रहे हो वह तो तुम्हारा शरीर है। जब कभी तुम परिचय देते हो तो यही कहते हो कि यह मेरा देह है, यह मेरी आँख है, यह मेरा हाथ है, यह मेरा पाँव है

---

१. अष्टाध्यायी ५-२-९३

२. न्यायदर्शन १-१०

इत्यादि। जो व्यक्ति इस शरीर से सम्बन्ध बनाकर यह कह रहा है—मेरा हाथ है, मेरा पाँव है, वो कौन है मैं उसको जानना चाहता हूँ। पूछनेवाले का नाम **इन्द्र** था, जिससे पूछा जा रहा था, उसका नाम **विरोचन** था। प्रश्नकर्त्ता इन्द्र का यह मत था कि जो कुछ तुम दिखाई दे रहे हो वह तुम नहीं हो। यह तो मात्र तुम्हारा शरीर है और अङ्ग-प्रत्यङ्ग इन्द्रिय आदि हैं। **विरोचन** अपने उत्तर पर अडिग था और देह के सिवाय कुछ नहीं मानता था। इसी प्रश्न पर उनकी काफ़ी देर तक ले-दे होती रही। अन्त में उन्होंने परस्पर निर्णय लिया कि आओ हम प्रजापति के आश्रम में चलें और उनसे इस प्रश्न का समाधान प्राप्त करें! वे दोनों ही समित्पाणि होकर प्रजापति के आश्रम में पहुँचे। दोनों ने अपनी समस्या रखी। इस पर प्रजापति ने **इन्द्र** और **विरोचन** से कहा—तुम दोनों एक-दूसरे की ओर मुख करके बैठो और एक-दूसरे की आँख की पुतली में झाँककर देखो। उसमें जो कुछ तुम्हें नज़र आता हो, वही तुम हो। परस्पर एक-दूसरे की आँख में देखने पर उन्हें अपनी-अपनी आकृति नज़र आई। तब विरोचन अति प्रसन्न होकर बोला कि मैंने जो बात कही थी वही सिद्ध हुई—**अहमेषोऽस्मि।** इन्द्र का तो समाधान न हुआ। वह अपनी शंका रखना ही चाहता था कि प्रजापति ने दो पात्र देकर कहा—इसमें पानी भर लाओ। पानी भरकर लाने पर प्रजापति ने कहा—इन जल-पात्रों को अपने सामने रखो और जल में झाँककर देखो। जो कुछ तुम्हें नज़र आता है वही तुम हो। इस पर भी विरोचन अति प्रसन्न था और इन्द्र उदासीन था। दोनों के अपने-अपने मन्तव्यानुसार प्रसन्नता और उदासीनता छाई हुई थी। प्रजापति ने पुनः समाधान करते हुए कहा—हे प्रिय शिष्यो! यह दर्पण लो। तुम्हें जो कुछ इसमें दिखाई देता

है वही तुम हो। दर्पण में भी दोनों की अपनी-अपनी आकृति दृष्टिगोचर हुई। इस पर विरोचन हर्ष से उछल पड़ा और अपनी विजय की घोषणा करते हुए बोल उठा कि मैंने अपना-आपा पा लिया। मैं कौन हूँ? इसका समाधान हो गया। वह अपने अनुयायियों में गया और एक दीवार पर बड़ा दर्पण लगाकर एक-एक को बुलाकर दर्पण के सामने खड़ा किया और सबको कहता—जो कुछ दिखाई पड़ता है वह तुम हो। बस तब से लेकर आज के समय तक विरोचन के अनुयायी अपने को दर्पण के सामने खड़ा करके अपनी देह को सजाने और सँवारने में लगे रहते हैं और सहर्ष एक-दूसरे से कहते हैं—**अहमेषोऽस्मि, अहमेषोऽस्मि।**

विरोचन के चले जाने पर इन्द्र से न रहा गया। उसने प्रजापति से पूछ ही लिया—भगवन्! जो कुछ आँख की पुतली में दिखाई दिया, जो कुछ जलपात्र में दिखाई दिया, जो कुछ दर्पण में दिखाई दिया, क्या सचमुच मैं वही हूँ? भगवन्! वह तो मेरा शरीर है; मैं नहीं। मैं तो यह जिज्ञासा लेकर आया था, इस चिरन्तन प्रश्न का उत्तर लेने आया था कि मैं कौन हूँ? मैं वह नहीं हूँ जो आँखों की पुतली में, स्थिर जल में अथवा दर्पण में दिखाई देता है। मैं इन्द्र हूँ, मैं आत्मा हूँ, मैं अमृत हूँ। प्रजापति ने समाधान करते हुए कहा—प्रिय शिष्य! तुम ठीक कहते हो। ये विराट् के ललाट पर लिखे हुए चार चिरन्तन प्रश्न हैं। उनमें से पहला प्रश्न है कि तू कौन है? **प्रतिबोधविदितम्**[१]—

कोऽसि—तू कौन है? क्या है? मैं क्या हूँ? ये चिरन्तन प्रश्न हैं। यही प्रश्न धर्म ने किया है, तर्क ने किया है और

---

१. केनोपनिषद् २.४

विज्ञान ने भी किया है। उपनिषद् में आत्मा को "**प्रतिबोध विदितम्**" कहा है—कोई बोध हो, उसमें बोधवाले का बोध साथ लगा हुआ है। **मैं देखता हूँ**—इसमें देखने के साथ **मैं** का भाव भी है। **यह वृक्ष है—मैं** न होऊँ तो वृक्ष के होने की साक्षी क्या? सब साक्षियों में अपनी साक्षी का सहभाव है। प्रत्येक चेष्टा अपनी चेष्टा होती है। प्रत्येक प्रत्यय अपना प्रत्यय होता है। इसी अपना वा आपा को संस्कृत में **आत्मा** कहते हैं।

ऋग्वेद में यह पहेली प्रस्तुत की है—

न विजानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि। मैं नहीं जानता, क्या मैं यही हूँ (जो दिखता हूँ अर्थात् शरीर)। मैं तो सन्नद्ध (प्रयत्न के लिए उद्यत होकर (मनसा) मननशक्ति (न्यायदर्शन के शब्दों में ज्ञान) द्वारा (चरामि) गति करता हूँ।

अहं क्रतुरहं यज्ञः

इस प्रश्न-चतुष्टय में अन्तिम प्रश्न है—**को नामासि?** तेरा क्या नाम है? हम पीछे इस प्रश्न के समाधान में लिख चुके हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रश्न का यह उत्तर देना चाहिए—'**अहं इन्द्रोऽस्मि**'—मैं इन्द्र हूँ। आप भूले न होंगे हमने भगवान् पाणिनि मुनि के '**इन्द्रियम् इन्द्रलिङ्गम्**' के आधार पर आत्मा का नामकरण इन्द्र किया है। यह तो सर्वविदित है कि मनुष्य-देह में इन्द्रियों के दो विभाग हैं जो पाँच-पाँच में बँटे हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ। कर्मेन्द्रियों में वाणी और पाणि का बड़ा महत्त्व है। पाणि को प्रचलित भाषा में कर कहते हैं। इसी प्रकार जहाँ दश अंगुलियों-वाले करण हैं, वहाँ दशांगुलियों वाले चरण भी हैं। इसलिए मानवप्राणि इस धरती पर **अनुकरण** अथवा **अनुचरण** करने के लिए आया हुआ है। केवल मनुष्य-प्राणी ही है जिसे करने

के लिए कर मिले। अतः समस्त कर्म-व्यवस्था इसी के लिए विहित है। महाभारतकार ने कहा है—'**कर्मभूमिरियं ब्रह्मन्! फलभूमिरसौ मता**'।[१] स्वयं वेदभगवान् ने कहा—'**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः**।'[२] अतः हमने निश्चय किया है कि ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा से जहाँ आत्मा का नाम **इन्द्र** है, वहाँ कमेन्द्रियों की अपेक्षा से आत्मा का नाम **क्रतु** है। यजुर्वेद के अन्तिम ४०वें अध्याय में परमात्मा के निज नाम **ओम्** के साथ आत्मा का निज नाम **क्रतु** भी अंकित है, और कर्म करने की अवधि शतवर्ष है, इसलिए आत्मा का नाम क्रतु नहीं अपितु **शतक्रतु** है। इन्द्र का अपर नाम **शतक्रतु** है। दोनों पदों के प्रथम अक्षर लेकर **इन्द्र** का नाम **शक्र** हो गया है। अतः '**को नामासि**' इस प्रश्न के समाधान में यह नाम भी अंकित कर लीजिए—**क्रतु, शतक्रतु,** अथवा **शक्र।** क्रतु का एक अर्थ यज्ञ भी है। अतः श्रीकृष्ण भगवद्गीता में घोषणा करते हैं—**अहं क्रतुः अहं यज्ञः**।[३]

सहज नाम हंस—

नामकरण-संस्कार में पिता द्वारा माता की गोदी में लेटे हुए पुत्र के नथुने पर हाथ रखकर मन्त्र बोला गया है—**कोऽसि कतमोऽसि कस्याऽसि को नामासि**—नथुने को स्पर्श करके मन्त्र बोलने का एक सम्भावित संकेत यह भी है कि हे पुत्र, इस चोले में इन साँसों का बड़ा मूल्य है। इनके रहते-रहते तुम किसी प्रश्न का उत्तर देना न देना, परन्तु इन चार प्रश्नों का उत्तर अवश्य देना। नासिका से निकलते हुए साँसों के स्पर्श करने का दूसरा संकेत यह मिलता है कि तुम अभी

---

१. महाभारत वन प० २४७-३५

२. यजुर्वेद ४०.२

३. भगवद्गीता ९-१६

परमात्मा के नाम का स्मरण नहीं कर सकते क्योंकि वाक्-शक्ति संस्कृत नहीं हो पाई है। परन्तु इस अवस्था में भी तुम अपनी नासिका से अपने नाम का स्वयं उच्चारण कर रहे हो। यह नामोच्चारण इतना सहज है कि सोते, जागते, उठते, बैठते, चलते, फिरते स्वभावतः स्मरण होता रहता है। जब तुम नासिका-छिद्रों से श्वास लेते हो तो उससे एक बिन्दु बनता है जिसे अनुस्वार कहते हैं जिसकी ध्वनि **अं** है। और जब दोनों छिद्रों से श्वास को बाहर छोड़ते हो तो स्वभावतः दो बिन्दु बन जाते हैं जिन्हें विसर्ग कहते हैं जिनकी ध्वनि **अः** है। अं, अः, कहते-कहते 'हंसः हंसः' की ध्वनि निकलने लगती है। उपनिषत्कार ने कहा भी है—वास्तव में जीवात्मा और प्राण का नाम हंसः है।[१] ये दोनों जोड़े-से रहते हैं। एक के चले जाने पर दूसरे को जाना ही होता है। प्राणरूपी हंस के दोनों पंख हर समय खुले रहते हैं जो कि प्राण और अपान के नाम से कहे जाते हैं। सब इन्द्रियों के सो जाने पर भी ये दोनों जागते रहते हैं। यजुर्वेद की ऋचा में कहा भी है—**तत्र जाग्रतो असप्नजौ सत्रसदौ च देवौ,** इसीलिए हर समय 'हंसः, हंसः, हंसः', की ध्वनि निकलती ही रहती है। इनके हाथ में माला भी मोतियों की होती है जिसे ये चुगते रहते हैं। अनन्तकाल से इसके ये पंख सदा से खुले हैं, खुले ही रहेंगे।

---

१. प्राणापान वशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च गच्छति। अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति॥ ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित्॥ ३०॥
हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः, हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥ ३१॥
षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येक विंशतिः। एतत् संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥ ३२॥ —योगचूडामण्युपनिषद्

बिना विश्राम किये उड़ा ही चला जा रहा है। इस हंस का मनोहारी वर्णन अधोलिखित अथर्व वेदीय ऋचा में पढ़िये और उस पर कविवर जगन्नाथप्रसाद जी ने जो भावभीनी कविता लिखी है, उसे उनका आभार व्यक्त कर दे रहा हूँ—

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर् हंसस्य पततः स्वर्गम्।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा॥

—अथर्व० १०.८.१८

(**स्वर्गं पततः**) स्वर्ग को जाते हुए (**अस्य**) इस (**हरेः हंसस्य**) ह्रियमाण या हरणशील जीवात्मा हंस के (**पक्षौ**) पंख (**सहस्राह्ण्यं**) सहस्रों दिनों से (**वियतौ**) खुले हुए हैं, फैले हुए हैं (**सः**) वह हंस (**सर्वान् देवान्**) सब देवों को (**उरसि**) अपने हृदय में (**उपदद्य**) लिये हुए (**विश्वा भुवनानि**) सब भुवनों को (**संपश्यन्**) देखता हुआ (**याति**) जा रहा है।

हंसः

है कहाँ मञ्ज़िल तुम्हारी?
दिन हज़ारों हो गए तुमको सुनो हे हंस सुन्दर!
पंख खोले स्वर्ग ही की ओर यों उड़ते निरन्तर।
किन्तु तुम में और दिव् में कम हुआ कुछ भी न अन्तर।
दूर होता ही गया वह, तुम बढ़े ज्यों ज्यों निकटतर।
है तुम्हारी चाल न्यारी।

है कहाँ मञ्ज़िल.........?
बन्धनों में भी लगाए प्रगति को अपने गले तुम,
तज त्रिविष्टप और मानस, यातनाओं में जले तुम,
जन्म ही से उत्पतन का दूध पी मानो पले तुम,
जो कि मञ्ज़िल पर पहुँच कर भी सदा उड़-उड़ चले तुम।
व्योम के सुन्दर विहारी!

है कहाँ मञ्ज़िल......... ?

हैं अतुल मोती तुम्हारे मानसर ही के किनारे,
स्वावलम्बी हो, नहीं परलोक के तुम हो सहारे,
संग-संग समस्त दिव के देवता फिरते तुम्हारे,
तुम स्वयं ही स्वर्ग हो, तुम से नहीं कुछ स्वर्ग न्यारे,
किन्तु फिर भी तुम भिखारी।

है कहाँ मञ्ज़िल......... ?

युक्त हो अमरत्व से भी, युक्त हो अजरत्व से भी,
युक्त हो पूर्णत्व से भी, युक्त हो देवत्व से भी,
सूत्र जो सब सूत्र का है युक्त हो उस तत्त्व से भी,
और यह होते हुए भी तुम नये मनुजत्व से भी—
क्यों तुम्हें निज भूल प्यारी ?

है कहाँ मञ्ज़िल......... ?

लोभ में परलोक के निज लोक ही उजड़ा तुम्हारा,
बुद्धि के मद में मिटा अन्त:करण का ज्ञान सारा,
और व्यापक ज्ञान की धुन में मिटा व्यक्तित्व प्यारा,
अन्त की सुधि में गया छिप 'आदि' का वह सांध्यतारा—
हो गई यह रात भारी।

है कहाँ मञ्ज़िल......... ?

काम बनने का नहीं जब तक नहीं निष्काम होगे,
नाम होने का नहीं जब तक नहीं गुमनाम होगे,
प्रगति होने की नहीं जब तक न पूर्ण विराम होगे,
मार्ग मिलने का नहीं जब तक नहीं तुम वाम होगे—
बहिर्मुख पथ के पुजारी।

है कहाँ मञ्ज़िल......... ?

सब गुणों से युक्त भी होते हुए गुणहीन निकले,
इन्द्र और कुबेर भी होते हुए तुम दीन निकले,
ज्ञानमय होते हुए अज्ञान में तल्लीन निकले,
मुक्त भी होते हुए परतन्त्र और अधीन निकले—
शक्ति सब तुमने बिसारी।

है कहाँ मञ्ज़िल.........?

बुद्धि से कह दो कि 'तू अब सर्वथा निरुपाय हो जा'
शक्ति से कह दो कि 'तू अब सर्वथा असहाय हो जा'
ध्यान से कह दो कि 'तू अन्तर्ध्यान हो मृतप्राय हो जा'
और अपने से कहो 'तू ब्रह्म का पर्याय हो जा'
कर समर्पित सिद्धि सारी। है यही मञ्ज़िल तुम्हारी॥

—०—

हे जीवात्मन्! तेरे नाम में दो पद हैं—एक **जीव** और दूसरा **आत्मन्**, दोनों नामों की सम्मिलित संज्ञा **हंस** है। तुम इस देह में दोनों **हंस** बनकर रह रहे हो, सदा मिलकर रहना। तुम्हारे पिताश्री का नाम **परमहंस** है। हे प्रिय आत्मन् हंस! तुम अपने साथी प्राण-हंस की सहायता से जिस दिन परमपद को प्राप्त कर लोगे, तुम्हारा नाम भी **परमहंस** हो जाएगा। याद रखना साथी प्राण—

हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद् वरसदृतसद् व्योमसदब्जागोजाऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहद्॥

—ऋ० ४.४०.५; य०सं० १०.२४.१२.२४;

—तै०सं० १.८.१५.२, ४.२.१.५; तै०आ० १०.१०.२

हंस का ठिकाना सदैव पवित्र स्थान पर रहता है। वह **शुचिसद्** है। हृदयान्तरिक्ष में रहकर सबको निवास दिये हुए हैं, इसी से इसका नाम **वसु** है। सदैव द्वार पर खड़ा रहता है, ध्यान रखना वह **अतिथि** है। सतत गमनशील है, उसका क्या भरोसा कब अपना दण्ड-कमण्डलु उठा ले और चल दे! उसका एक नाम **होता** है, ली हुई हवि को शतगुणित करके लौटा रहा है, वह **वेदिषद्** है। इन्हीं प्राणों का एक नाम **वायु** है। यदि वायु शब्द का सन्धिविच्छेद किया जाए तो दो अर्थ सामने आते हैं—उ-आयु, जो निश्चित आयु है। इसलिए

जीवात्मा को सम्बोधित करके कहा गया—**वायुरनिलम् अमृतम्।** इसी से निश्चित आयु है। आत्मन्, तू अमृत है। हे पुत्ररूप जीवात्मन्, मैंने तो तेरे जन्म होने पर ही तेरे कान में कहा था—**वेदोऽसि, एषोऽसि, अमृतोऽसि**—तू उपलब्धि है, तू देह से यह है, प्रत्यक्ष है और आत्मना अमृत है। तू हंस भी है, जब तुम आचार्य के पास उपनयनार्थ जाओगे तो आचार्य श्री भी पूछेंगे—को नामासि? तो जहाँ हमारे द्वारा रखे हुए नाम का उच्चारण करोगे वहाँ इन नामों का भी उच्चारण करना—**१-अहं वेदोऽस्मि, २-अहमेषोऽस्मि, ३-अहममृतोऽस्मि, ४-अहं पुरुषोऽस्मि, ५-अहमिन्द्रोऽस्मि, ६-अहं क्रतुरस्मि, ७-अहं यज्ञोऽस्मि, ८-अहं शतक्रतुरस्मि, ९-अहं शक्रोऽस्मि, १०-अहं हंसोऽस्मि, ११-अहमहमस्मि, १२-अहं ब्राह्मणोऽस्मि, १३-अहं शर्मास्मि, १४-अहं पुत्रोऽस्मि** इत्यादि। **अहम्** नाम पर उपनिषत्कार की अधोलिखित प्रस्तावना पठनीय है, तद्यथा—**ततो अहं नामा अभवत्। तस्माद् अपि एतर्हि आमन्त्रितः अहम् अयम् इति एव अग्रे उक्त्वा अन्यत् नाम प्रब्रूते, यद् अस्य भवति। स यत् पूर्वो अस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मनः औषत्, तस्मात् पुरुषः। ओषति ह वै स तं, यो अस्मात् पूर्वो बुभूषति, यः एवं वेद॥ १॥**

अर्थ—यह सब पहले आत्मा ही था मनुष्य जैसा (मनुष्य जैसे—धर्मोंवाला)। उसने अपने चारों ओर देखकर अपने से भिन्न दूसरा कोई न देखा। उसने 'मैं हूँ' ऐसा पहले उच्चारण किया (कहा), उससे इसका 'मैं' नाम हुआ। इसलिये अब भी (इस काल में भी) बुलाया हुआ (कौन है? ऐसा पूछा हुआ) यह (मनुष्य) 'मैं', ऐसा ही पहले कहकर पीछे अपना दूसरा नाम कहता है, जो इसका होता है। उस (आत्मा) ने जो इस सब चर-अचर-जगत् से पहला (अग्रणी=मुखिया)

होकर सब पापों (बुराइयों) को जला दिया, इसलिये उसका नाम पुरुष (पूर्व+उष) हुआ। निःसन्देह वह भी उसको (सब पापों=बुराइयों को) पहले जला देता है, जो इस (मनुष्य-समाज) से पहला (अग्रणी=मुखिया) होना चाहता है और जो ऐसा (सब पापों=बुराइयों को पहले जला देने से पहला=मुखिया होता है, ऐसा) जानता है॥१॥

नामकरण-संस्कार और तदर्थ प्रधान होम

महर्षि दयानन्द रचित 'संस्कारविधि' में विधान है कि—**जो उसी संस्कार के लिए कर्त्तव्य हो, उस प्रथम प्रधान होम को करें। पूर्वोक्त प्रकार घृत और सब साकल्य सिद्ध कर रक्खे। उसमें से प्रथम घी का चमचा भरके—ओम् प्रजापतये स्वाहा। इस मन्त्र से एक आहुति दें।**

प्राजापत्याहुति की प्राथमिकता

सर्वप्रथम प्राजापत्याहुति पर ही विचार करते हैं। प्रजापति देवता के नाम से आहुति दिये जाने में यह औचित्य है कि—प्रजापति बनने के उद्देश्य से सब प्रक्रियाएँ की गईं थीं उसका मूर्तफल आज गोदी में विद्यमान है, फिर उस देवता को याद न करना कृतघ्नता का पात्र बनना होगा, अतः अत्या!वश्यक था कि सर्वप्रथम उसे याद किया जाए।

प्रजापतिर्वै कः

प्रजापति देवता से सम्बद्ध अत्यावश्यक दूसरी बात यह भी है कि—इस प्रक्रिया के तुरन्त पश्ंचात् पिता द्वारा बालक के नासिकाग्र-भाग को स्पर्श करके जो चार चिरन्तन प्रश्न किये गए हैं, उनके उत्तर एकमात्र **प्रजापति** नाम में निहित हैं, क्योंकि वैदिक वाङ्मय में सब देवताओं में प्रजापति देवता वरिष्ठ और श्रेष्ठ पद पर प्रतिष्ठित है। ऋग्वेदीय हिरण्यगर्भ सूक्त के मन्त्रों की कुल संख्या दश है, जिसके नौ मन्त्रों के अन्तिम

चरण **कस्मै देवाय हविषा विधेम** हैं जिसमें प्रश्नवाचक किम् शब्द का प्रयोग होने से प्रार्थी कह रहा है कि किस देव के प्रति हम अपनी हवियाँ अर्पित करें? स्तोता सूक्तगत नौ मन्त्रों में बराबर पूछ रहा है, इसलिए प्रजापति को अनिरुक्त कहा जाता है, तद्यथा—'**अनिरुक्तः वै प्रजापतिः**'[१]। इस प्रकार प्रजापति की संज्ञा **क** हो गई—**प्रजापतिर्वै कः**[२]। **कोऽसि? कतमोऽसि? कस्याऽसि? कोऽनामासि?** इन चार चिरन्तन प्रश्नों का उत्तर **कोऽहमस्मि, कतमोऽहमस्मि, कस्याऽहमस्मि, कोऽनामाऽहमस्मि**—मैं **क** हूँ। मैं उत्तम **क** हूँ, मैं **क का** हूँ, मैं **क** नामवाला हूँ। सूक्त के अन्तिम मन्त्र में स्तोता विश्वासपूर्वक कह रहा है—**प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव**[३]—हे प्रजापते! तुझसे भिन्न इस वर्तमान् और उन उत्पन्न भूतमात्र का कोई भी पराभव नहीं कर सकता। तू ही एकमात्र इसका रचयिता है, स्रष्टा है। इस प्रजापति-विषयक वैदिक वाङ्मय में विस्तार से कहे गए रूप को संक्षिप्त साररूप निकालकर कहा—**उभयं वा एतत् प्रजापतिः निरुक्तश्चा-निरुक्तश्च, परिमितश्चापरिमितश्च।**[४]

प्रजनन-क्रिया की देवता प्रजापति—

प्रजापति देवता के नाम पर आहुति दिये जाने में अन्तिम युक्ति यह भी है कि—जिस देवता का मूर्त, पुत्ररूप फल माता-पिता की गोदी में लोरी ले रहा है, उसकी याद सर्वप्रथम होनी आवश्यक है। उसकी याद गर्भाधान-संस्कार में ही की गई है। हमने सोलह संस्कारों को सोलह कलाएँ मानकर उसे '**प्रजनन कला**' नाम दिया है। प्रजनन की देवता होने से ही

---

१. श.ब्रा. ६-५-३-७ २. श.ब्रा. ६-४-३-४
३. यजुर्वेद २३-६५ ४. श.ब्रा. ६-५-३-७

इसे प्रजापति कहा जाता है। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने भी कहा है—**प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः**[१] अर्थात् कामों में मैं वह प्रजापति हूँ जो वीर्य को व्यर्थ नहीं जाने देता, किन्तु जिससे अवश्य सन्तान उत्पन्न होती है। अतः वीर्य-सिञ्चन की देवता का नाम प्रजापति है। गर्भाधान-संस्कार में '**विष्णुर्योनिं कल्पयतु, त्वष्टा रूपाणि पिंशतु, आसिञ्चतु प्रजापतिर् धाता गर्भं दधातु ते**'[२]—ऋग्वेद के इस मन्त्र द्वारा गृहस्थ व्यक्ति को यह आदेश है कि प्रजोत्पत्ति से पूर्व स्वयं अपने में गर्भ को धारण करे, इसके लिए आवश्यक है कि ब्रह्म के गुण-भेद से वर्णित **विष्णु, त्वष्टा, प्रजापति** और **धाता** नामवाले देवताओं की योग्यता को धारण करे। सन्तान की चाहना से पूर्व **वैष्णव रूप** धारण करके वह गर्भ की **योनि** की कल्पना करे। फिर **त्वष्टा** देवता की योग्यता धारण कर गर्भ के रूप की कल्पना या पिंशन करे। तब कहीं **प्रजापति-गुण** धारण कर उस गर्भ का पत्नी में सिञ्चन करे, तदुपरान्त **धाता** बनकर उस गर्भ को धारण करे।

आधान से पूर्व गर्भनिर्माण—

किसी भी आधान-क्रिया से पूर्व आधान किये जानेवाले पदार्थ का सावधानतापूर्वक निर्माण किया जाता है, तद्यथा—अग्न्याधान से पूर्व यजमान अग्नि का निर्माण करता है। जिस प्रकार कृषक बीजवपन से पूर्व उत्तम बीज का निर्माण करता है, ठीक उसी प्रकार गर्भाधान से पूर्व पुरुष स्वयं अपने में वीर्यरूप गर्भ का निर्माण करता है। इसका अभिप्राय यह है कि पुरुष स्वतः अपने में गर्भ धारण करता है। उस गर्भ के परिपक्व होने पर ही पत्नी रूप वेदी में सिञ्चित करता है।

---

१. भगवद्गीता १०.२८

२. ऋग्वेद १०.१८४.१

गर्भ को सिञ्चित करना ही गर्भाधान है। ब्राह्मणकार ने कहा भी है—

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति यदेतद्रेतः तदेतद् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यः तेजः सम्भूतम् आत्मन्येवात्मानं बिभर्ति यदेतद् स्त्रियां सिञ्चति अथ एनं जनयति तदस्य प्रथमं जन्म।

यह सब प्रक्रिया प्रजापति देवता से सम्बद्ध है, इसलिए कहा—**असिञ्चतु प्रजापतिः।** इसी प्रक्रिया को महाभारतकार ने अपने ढंग से कहा—**भार्यां पतिः समाविश्य स यस्माज्जायते पुनः जायायास्तद्धि जायात्वं पौराणाः कवयो विदुः।**[२] अतः प्राजापत्याहुति की सार्थकता स्वतः सिद्ध है। इसी प्रजापति देवता के नाम पर दी गई आहुति के परिणामस्वरूप ही बालक के **रूप** और **नाम** की सार्थकता है। रूप-समृद्धि के लिए जातकर्म-संस्कार है, और नाम-समृद्धि के लिए, नामकरण-संस्कार है। जातकर्म-संस्कार में वर्णित है कि नवजात पुत्र को आघ्राणपूर्वक अधोलिखित मन्त्रों को बोले—**अङ्गादङ्गात् संस्रवसि हृदयादधि जायसे। वेदो वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम्।**[३] इस मन्त्र-वर्णित 'अङ्गादङ्गात् संस्रवसि' में वही प्रजापति देवता की सिञ्चन-क्रिया का स्पष्ट उल्लेख है। **रूपं वै प्रजापतिः, नाम वै प्रजापतिः।**[४]

इस स्थापना को प्रमाणित करने के लिए ब्राह्मणग्रन्थों के कतिपय प्रमाण उपस्थित करते हैं—

(१) प्रजापतिः अकामयत प्रजायेय इति। स तपो अतप्यत। स तपः तप्त्वा इमाः सर्वाः प्रजाः असृजत॥ १॥

(तै०ब्रा० २।३।८)

---

१. ऋग्वेद १०-१२१
२. महाभारत
३. मन्त्र ब्राह्मण १.५.१७
४. तै.ब्रा. २-२-७-१

अर्थ—प्रजापति ने यह इच्छा की—मैं प्रजारूप से प्रकट होऊँ (प्रजा उत्पन्न करूँ)। उसने तप तपा। उसने तप तपकर ये सब प्रजाएँ उत्पन्न कीं॥ १॥

यः सः प्रजापतिः प्रजाः असृजत, ताः सृष्टाः समाश्लिष्यन्। ताः रूपेण अनुप्राविशत्। तस्माद् आहुः रूपं वै प्रजापतिः इति। ताः नाम्ना अनुप्राविशत्। तस्माद् आहुः नाम वै प्रजापतिः इति॥ २॥ (तै०ब्रा० २। २। ७)

अर्थ—उस प्रजापति ने जो प्रजाएँ उत्पन्न कीं वे उत्पन्न हुईं मिली हुई थीं (आपस में एक-जैसे आकारवाली थीं, भिन्न-भिन्न आकारवाली नहीं थीं)। उसने उन (प्रजाओं) में भिन्न-भिन्न आकार से प्रवेश किया (उनके आकार भिन्न-भिन्न किये)। इसलिये यह कहते हैं—आकार-निश्चय प्रजापति (प्रजापति का किया हुआ) है। उसने उनमें भिन्न-भिन्न नाम से प्रवेश किया (उनके नाम भिन्न-भिन्न किये)। इसलिये यह कहते हैं—नाम-निश्चय प्रजापति (प्रजापति का किया हुआ) है॥ २॥

''एते'' इति वै प्रजापतिः देवान् असृजत। ''इन्दवः'' इति पितॄन्। ''असृग्रम्'' इति मनुष्यान्। ''अभिसौभगा'' इति अन्याः सर्वाः प्रजाः॥ ३॥ (ताण्डव० ६। ९। १५)

अर्थ—एते=न मरने से न्यून होवो, न सन्तान से अधिक; जितने हो, सदा इतने—इस सङ्कल्प से निश्चय प्रजापति ने अग्नि आदि देवताओं को उत्पन्न किया। **इन्दवः**=तुम अपनी प्रजा के लिए चन्द्रमा की नाईं सदा आह्लादकारक होवो—इस सङ्कल्प से पितरों को उत्पन्न किया। **असृग्रम्**—मैंने तुमको उत्पन्न किया, तुम भी आगे उत्पन्न करो—इस सङ्कल्प से मनुष्यों को उत्पन्न किया। **अभिसौभगा**=तुम मनुष्यों का सब प्रकार से उत्तम ऐश्वर्य होवो—इस सङ्कल्प से दूसरी सब पशु आदि

प्रजाओं की उत्पन्न किया॥ ३॥

'देवता'

(२) ब्रह्म वै इदम् अग्रे आसीत्। तद् देवान् सृष्ट्वा एषु लोकेषु व्यारोहयत्। अस्मिन् एव लोके अग्निम्, वायुम् अन्तरिक्षे, दिवि एव सूर्यम्॥ १॥ (शत० ११।२।३।१)

अर्थ—प्रजापति ही यह सब पहले था। उसने देवताओं को उत्पन्न करके इन लोकों में स्थापन किया। इस ही (पृथिवी) लोक में अग्नि को, अन्तरिक्ष लोक में वायु को, और द्युलोक में निश्चय सूर्य को स्थापन किया॥ १॥

ब्रह्मोद्यं वदन्ति—अग्निः गृहपतिः इति ह एके आहुः। सो अस्य लोकस्य गृहपतिः। वायुः गृहपतिः इति ह एके आहुः। सो अन्तरिक्षस्य गृहपतिः। असौ वै गृहपतिः, योऽसौ तपति। एष पतिः, ऋतवो गृहाः॥ २॥ (ऐ०ब्रा० २४।६)

अर्थ—ब्रह्मवादियों का संवाद (मिलकर वार्तालाप) कहते हैं—अग्नि गृहपति है, यह निश्चय एक (ब्रह्मवादी) कहते हैं। वह इस (पृथिवी) लोक का गृहपति है। वायु गृहपति है, यह निश्चय एक कहते हैं। वह अन्तरिक्षलोक का गृहपति है। वह (सूर्य) निश्चय गृहपति है, जो वह तपता (तप रहा) है। यह पति (स्वामी) है और ऋतुएँ गृह, इसलिये सूर्य गृहपति है॥ २॥

अग्निः वसुभिः, सोमो रुद्रैः, इन्द्रो मरुद्भिः, वरुणः आदित्यैः, बृहस्पतिः विश्वेदेवैः। एते ह तु एव ते विश्वे देवाः॥ ३॥ (तै०सं० ६।२।२) (शत० ३।४।२।१)

अर्थ—अग्नि वसुओं (वसु देतवाओं) के साथ पृथिवीलोक में, चन्द्रमा रुद्रों के साथ और इन्द्र मरुतों के साथ अन्तरिक्षलोक में, वरुण आदित्यों के साथ और बृहस्पति विश्वेदेवों के साथ [द्युलोक में स्थित है]। ये ही निश्चय प्रसिद्ध वे सब देवता हैं॥ ३॥

तद् इदम् अभ्यनूक्तं यजुषा—"अग्निः देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्राः देवता आदित्याः देवता मरुतो देवता विश्वेदेवाः देवता बृहस्पतिः देवता इन्द्रो देवता वरुणो देवता"॥ ४॥ (यजुः० १४। १०)

अर्थ—वह यह कहा है यजुर्वेद के मन्त्र ने—अग्नि देवता है, वायु देवता है, सूर्य देवता है, चन्द्रमा देवता है, वसु देवता है, रुद्र देवता है, आदित्य देवता है, मरुत् देवता है, विश्वेदेव देवता है, बृहस्पति देवता है, इन्द्र देवता है, वरुण देवता है॥ ४॥

सर्वं वै विश्वेदेवाः॥ ५॥ (शत० १। ७। ४। २२)

अर्थ—सब देवता निश्चय विश्वेदेव हैं॥ ५॥

ओम् प्रजापतये स्वाहा॥

इस मन्त्र से एक आहुति देकर पीछे जिस तिथि, जिस नक्षत्र में बालक का जन्म हुआ हो उस तिथि और उस नक्षत्र का नाम लेके उस तिथि और उस नक्षत्र के देवता के नाम से ४ (चार) आहुति देनी, अर्थात् एक तिथि, दूसरी तिथि के देवता, तीसरी नक्षत्र और चौथी नक्षत्र के देवता के नाम से, अर्थात् तिथि, नक्षत्र और उनके देवताओं के नाम के अन्त में चतुर्थी विभक्ति का रूप और स्वाहान्त बोल के ४ (चार) घी की आहुति देवे। जैसे किसी का जन्म प्रतिपदा और अश्विनी नक्षत्र में हुआ हो तो—

ओं प्रतिपदे स्वाहा। ओं ब्रह्मणे स्वाहा। ओम् अश्विन्यै स्वाहा। ओम् अश्विभ्यां स्वाहा॥

यह समझ नहीं आ रहा है कि तिथि, तिथि के देवता, नक्षत्र, नक्षत्र के देवता, इन चार के प्रति क्यों आहुति दी जाए, जबकि महर्षि दयानन्द जन्मपत्री बनाने तक का निषेध करते हैं। इन परस्पर दो विरोधी विधानों के रहते हुए इसमें क्या औचित्य है? हम तो यही समझ पाए हैं कि प्राणी-देह में

ब्रह्माण्डगत देवताएँ अवतरित होती हैं तो वहाँ उक्त चार देवताएँ भ अवतरित हुईं। अन्तरिक्ष-स्थानीय चन्द्रमा का विशेष उल्लेख इसलिए किया गया कि चन्द्रमा को नक्षत्रों का अधिपति कहा गया है; तद्यथा—'**चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपति स मामवतु अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥**' (अथर्व० ५।२४।१०)

इसी प्रकार अथर्ववेद ६।८६।२ में चन्द्रमा को नक्षत्रों का स्वामी बताया गया है—**चन्द्रमा नक्षत्राणामीशे।** इसी भावना को अथर्ववेद १४।१।२ में चन्द्रमा को नक्षत्रों की उपस्थ में स्थित बताया गया है। मन्त्र इस प्रकार है—"**असो नक्षत्राणामेषां उपस्थे सोम आहितः**"। फिर अथर्व १५वें काण्ड के छठे सूक्त का ऋषि **अथर्वा** है और उसकी देवता **अध्यात्म** एवं **व्रात्य** है, जिसका अभिप्राय यह है इस सूक्त का अध्ययन-कर्त्ता स्वयं इस वेद का प्राप्तकर्त्ता निश्चल, स्थितधी, स्थितप्रज्ञ, अथर्वा ऋषि है। और उसकी देवता की स्थिति अध्यात्म-क्षेत्र में इतनी उन्नत है कि उसने समस्त व्रतों पर अधिकार किया हुआ है। व्रात्य कोई आजन्म ब्रह्मचारी अथवा संन्यासी है। वह व्रात्य त्रिलोकी की समस्त दिव्य शक्तियों का प्रिय धाम बन जाता है। हमारी समझ में तो यह **व्रात्य** संज्ञा मुक्त आत्माओं की है। इसी कारण वह स्वच्छन्द-विचरण करता है। चाहे **ध्रुवा** दिशा हो, **ऊर्ध्वा** हो, **उत्तम** हो, **बृहती** दिशा हो, **परम** दिशा हो, **अनादिष्ट** दिशा हो, जिस भी दिशा में चाहता है, स्वच्छन्द विचरण करता है और नवसृष्टि-निर्माणार्थ उसके पीछे-पीछे इस त्रिलोकी के सभी देवता चले आते हैं। छठे मन्त्र में लिखा है—वह ऋत् का, सत्य का, सूर्य का, चन्द्रमा का, और समस्त नक्षत्रों का प्रियधाम बन जाता

है। विस्तार-भय से हम अन्य देवताओं का वर्णन न करते हुए यह बताना चाहते हैं कि जिस प्रकार अन्य देवता इस देह में भिन्न-भिन्न प्रभाव रखती हैं, वैसे ही नक्षत्र और उसके देवता भी अपना काम करते हैं। ये जो अन्तरिक्ष लोक में **सप्तर्षि** विद्यमान हैं, उनके प्रतिनिधि प्राणी-देह में भी—पञ्चेन्द्रिय-सप्तगोलकों पर सात ऋषि विद्यमान रहते हैं। वेदों के उपाङ्ग ज्योतिष-शास्त्र के आधार पर इन नक्षत्रों का अध्ययन करके वे मानवदेह में क्या क्रिया-प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं उसे जाना जा सकता है। इस दृष्टि से विचार करने पर नक्षत्र, उसके देवता तिथि, एवं उसके देवता के नाम पर आहुति देने में औचित्य प्रतीत होता है। फलित ज्योतिष के आधार पर किसी भी मान्यता का यहाँ औचित्य नहीं है। आज की स्थिति में विज्ञान ने यह सिद्ध किया है—जब चन्द्रमा शुक्ल पक्ष में होता है तो अपराधों की संख्या बढ़ जाती है, और जब कृष्ण पक्ष में होता है तो अपराधों की संख्या कम हो जाती है।

नक्षत्रों के बारे में और अधिक क्या लिखें, अथर्ववेद के १९वें काण्ड के ७वें और ८वें सूक्त की देवताएँ नक्षत्र ही हैं, जिनमें प्रत्येक नक्षत्र का पुरुष के लिए क्या योगदान हो सकता है उसका भी चमत्कारिक वर्णन है और २८ नक्षत्रों की ओर संकेत भी है। हम ऊपर की पंक्तियों में दिखा आए हैं कि चन्द्रमा नक्षत्रों का अधिपति है। उसी की अनुकृति में मनुष्य-देह के हृदयान्तरिक्ष में चन्द्रमा मन बनकर बैठा है। इसका अभिप्राय यह है कि मन के भी बाह्यकरण दशेन्द्रिय गोलक और अन्त:करण-चतुष्टय मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार कुल चौदह, फिर इनके भी सूक्ष्म कारणरूप चौदह तत्त्व, कुल मिलाकर अट्ठाइस तत्त्वरूप नक्षत्र हैं।

पुरुष-सूक्त में वर्णित है कि—विराट् पुरुष के मन से

चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई, फिर वही चन्द्रमा, मन बनकर पिण्ड-पुरुष के हृदय में आ विराजा। इसी क्रम से पिण्ड-पुरुष का मन गृहस्थान्तरिक्षलोक में पुत्ररूप चन्द्र बनकर प्रकाश फैलाने लगा। तो इस पुत्ररूप चन्द्रमा के भी विराडन्तरिक्ष में उदित चन्द्रमा के नक्षत्रों की भाँति, नक्षत्र होने चाहिएँ जो अभी अनुसन्धेय हैं। अभी हम विराडन्तरिक्ष में विद्यमान अट्ठाइस नक्षत्रों का अथर्ववेद के उन्नीसवें काण्ड के सातवें, आठवें सूक्त में वर्णित का ही उल्लेख कर रहे हैं, जो इस प्रकार है—

१. **कृत्तिका[१] सुहवमस्तु**—हे अग्ने! कृत्तिका नक्षत्र हमारे द्वारा सम्यक् प्रकार से प्रार्थनीय हो, अर्थात् अपने दोषांशों को छोड़कर हमारे अनुकूल हो।

२. **रोहिणी[२] सुहवमस्तु**—रोहिणी नक्षत्र हमारे द्वारा अच्छी प्रकार से प्रार्थनीय हो।

३. **मृगशिरः[३] भद्रमस्तु**—मृगशिरा नक्षत्र हमारे लिए मंगलप्रद हो।

४. **आर्द्रा[४] शमस्तु**—आर्द्रा नक्षत्र हमारे लिए सुखकारक हो।

५. **पुनर्वसू[५] सूनृतास्तु**—पुनर्वसू नक्षत्र प्रिय एवं सत्यात्मिका वाणी देनेवाला हो।

६. **पुष्यः[६] चारुरस्तु**—पुष्य नक्षत्र हमारे लिए श्रेयस्कर अर्थात् कल्याणकारक हो।

७. **आश्लेषा[७] भानुरस्तु**—आश्लेषा नक्षत्र प्रकाश देनेवाला हो।

८. **मघा[८] मे अयनमस्तु**—मघा नक्षत्र हमारे लिए कल्याणमार्ग का प्रदर्शक हो।

९-१०. **पूर्वाफल्गुन्यौ[९] [१०] पुण्यमस्तु**—पूर्वा फल्गुनी के दो नक्षत्र पुण्यप्रद हों।

११. **हस्तः**[११] **शिवास्तु**—हस्त नक्षत्र पुण्यप्रद हो।

१२. **चित्रा**[१२] **शिवास्तु**—चित्रा नक्षत्र मंगलदायक हो।

१३. **स्वाति**[१३] **सुखम् मे अस्तु**—स्वाति नक्षत्र मेरे लिए सुखदायी हो।

१४-१५. **राधे**[१४] **विशाखे**[१५] **सुहवा अस्तु**—हमारे कार्यों को सिद्ध करनेवाली विशाखा नक्षत्र हमारे द्वारा सम्यक् प्रार्थनीय हो।

१६. **अनुराधा**[१६] **सुहवा अस्तु**—अनुराधा नक्षत्र हमारे द्वारा सम्यक्तया आह्वान करने योग्य हो।

१७. **ज्येष्ठा**[१७] **सुहवा अस्तु**—ज्येष्ठा नक्षत्र हमारे द्वारा अच्छी तरह प्रार्थनीय हो।

१८. **मूलं**[१८] **सुहवा अस्तु**—मूल नक्षत्र अच्छी तरह उपास्य हो।

१९. **पूर्वा अषाढा मे अन्नं रासताम्**—पूर्वा अषाढ़ा नक्षत्र हमारे लिए अन्न, अर्थात् भोग्य-पदार्थ देनेवाला हो।

२०. **उत्तरा देवी अषाढा ऊर्जम् आ वहन्तु**—उत्तरा अषाढा नक्षत्र ऊर्जा देनेवाली हो।

२१. **अभिजिन्मे रासतां पुण्यमेव**—अभिजित् नक्षत्र मेरे लिए पुण्यप्रद हो।

२२. **श्रवणः सुपुष्टिम् करोतु**—श्रवण नक्षत्र भी मुझे उत्तम पुष्टि देनेवाला हो।

---

१. सुहवमग्ने कृत्तिका[१] रोहिणी[२] चास्तु भद्रं मृगशिरः[३] शमार्द्रा[४]। पुनर्वसू[५] सूनृता चारु पुष्यो[६] भानुराश्लेषा[७] अयनं मघा[८] मे॥

२. एतद् वै प्रजापतेः शिरो यन्मृगशीर्षम्। —शत०ब्रा० २.१,२,८

३. पुण्यं पूर्वाफल्गुन्यौ[९-१०] चात्र हस्तः[११] चित्रा[१२] शिवास्वाति[१३] सुखो मे अस्तु। राधे[१४] विशाखे[१५] सुहवानुराधा[१६] ज्येष्ठा[१७] सुनक्षत्रमरिष्ट मूलम्[१८]॥

२३. **श्रविष्ठा सुपुष्टिं करोतु**—श्रविष्ठा नक्षत्र भी मुझे उत्तम पुष्टि देनेवाला हो।

२४. **शतभिषक् मे महत् वरीयः आ वहतु**—शतभिषक् नक्षत्र मेरे लिए श्रेष्ठतर फलप्रद हो।

२५. **द्वया प्रोष्ठपदा मे सुशर्म आ वहताम्**—दोनों प्रोष्ठपदा नक्षत्र मुझे उत्तम शरण प्रदान करें।

२६. **रेवती भगम् आ वहतु**—रेवती नक्षत्र मुझे ऐश्वर्य देनेवाला हो।

२७. **अश्वयुजौ भगम् आ वहतु**—अश्विनी नक्षत्र सौभाग्य का वहन करनेवाला हो।

२८. **भरणी रयिम् आ वहतु**—भरणी नक्षत्र मेरे लिए धन देनेवाला हो।

२९. **यानि नक्षत्राणि दिवि अन्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु**—जो नक्षत्र द्युलोक में, अन्तरिक्षलोक में, जल में, नक्षत्र-भूमि में, पहाड़ों में और दिशाओं में है।

३०. **यानि (नक्षत्राणि) चन्द्रमाः प्रकल्पयन् एति एतानि सर्वाणि मम शिवानि सन्तु**—जिस नक्षत्र को चन्द्रमा प्रेरित करते हुए विचरण करता है, वे सभी नक्षत्र मेरे लिए सुखकारक हों, कल्याणकारक हों।

---

१. **अन्नंपूर्वा रासतां मे अषाढा[२०] ऊर्जं देव्युत्तरा आ वहन्तु। अभिजिन्मे[२१] रासतां पुण्यमेव श्रवणः[२२] श्रविष्ठाः[२३] कुर्वतां सुपुष्टिम्॥**

२. **आ मे महत्छतभिषग्[२४] वरीय आ मे द्वया प्रोष्ठपदा[२५] सुशर्म। आ रेवती[२६] चाश्वयुजौ[२७] भगं न आ मे रयिं भरण्य[२८] आ वहन्तु॥**

३. अथर्ववेद १९.७.१

४. अथर्ववेद १९.७.२

३१. **अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सहयोगं भजन्तु मे**— ये अट्ठाइस कल्याण-कारक सुखप्रद नक्षत्र उत्तम फल देने के लिए, मेरे लिए सहयोग को प्रदान करें।

३२. **योगं प्रपद्ये क्षेमं च, क्षेमं प्रपद्ये योगं च, नमोऽहो-रात्राभ्यामस्तु**—मैं अलभ्य वस्तु की प्राप्ति के लिए तथा लब्ध वस्तु के परिपालन के लिए नक्षत्रों के प्रसाद से समर्थ होऊँ, तथा रात और दिन नक्षत्रों के अनुकूल होकर हमारे लिए लाभकारी हों। सम्भवतः इन अट्ठाइस नक्षत्रों के कारण ही चान्द्रमास अट्ठाइस दिनों का माना जाता है।

३३. **स्वस्तितं मे सुप्रातः, सुसायं, सुदिवं, सुमृगं सुशकुनं मे अस्तु**—मेरा कल्याण हो। मेरा प्रातःकाल सुखप्रद हो, सायंकाल सुखप्रद हो, मेरे रात-दिन सुखकर हों, मेरे पशु अनुकूल हों, पक्षी मेरे अनुकूल हों।

३४. **सुहवमग्ने स्वस्त्यमर्त्यं गत्वा पुनरायाभिनन्दन्**—हे अग्नि! सम्यक् प्रकार प्रार्थनीय अमरण-धर्मा को या अविनश्वर स्वस्ति को प्राप्त कर, कल्याण को प्राप्त कर, एवं हवि देनेवालों को खुश करते हुए फिर हमारे पास चले आओ।

इस प्रकार हम यथामति नक्षत्र-विषयक समाधान प्रस्तुत कर सके हैं। विद्वद्-समाज इस पर और अधिक विचार करके हमारा दिग्दर्शन कर सकता है।

नक्षत्र के आहुति-विषयक विचार होने के उपरान्त तिथि के विषय में जो उत्तर ऊहित हुए हैं उन्हें देने का प्रयत्न करता हूँ। ज्योतिषशास्त्र में दो प्रकार से तिथि मानी जाती हैं। एक को सौरतिथि और दूसरे को चान्द्रतिथि कहते हैं। ये सब तिथि चन्द्र से सम्बद्ध हैं। शुक्ल पक्ष से सम्बद्ध प्रतिपदा से लेकर

पूर्णिमा तक और कृष्ण पक्ष में प्रतिपदा से लेकर अमावास्या तक ये न केवल सूत्रग्रन्थों में ही वर्णित हैं, अपितु यजुर्वेद के २५वें एवं ३९वें अध्याय में भी वर्णित हैं। इसका अभिप्राय यह है कि ये तिथियाँ नित्य एवं निश्चित हैं। यदि चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हुआ है तो उसकी शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष में उदित हुई तिथिरूप कलाएँ भी प्राणीमात्र पर अवश्य प्रभाव डालती हैं। इसके साथ यह भी विचारणीय होगा कि तिथियों की संज्ञाएँ रूढ़ हैं अथवा यौगिक? यदि इनके योगरूढ़ अथवा यौगिक अर्थ ऊहित किये जाएँ तो तिथियों के नाम पर आहुति देने का औचित्य प्रतीत होता है, न केवल बालक के जन्मतिथि का ही औचित्य है, अपितु पन्द्रहों तिथियों से आहुति दिये जाने का भी औचित्य है। यदि विराडन्तरिक्ष-स्थानीय चन्द्रमा प्रतिपदादि तिथियों के गणित से अपनी कलाओं का विकास करता है तो क्यों नहीं गृहस्थान्तरिक्ष में—उदित पुत्ररूप चन्द्र की भी अपनी प्रतिपदादि तिथियाँ होनी चाहियें। फिर प्रचलित तिथियाँ न मानकर अपनी योग्यतारूप गुण के आधार बालकरूप चन्द्र की तिथियाँ पृथक्-पृथक् होंगी, तद्यथा—

प्रतिपदे स्वाहा—

प्रतिपदादि चान्द्रतिथियों का उल्लेख वेदों में पाया जाने से सिद्ध होता है कि चन्द्र की भाँति उसकी तिथियाँ भी नित्य हैं। वे अपने रूढ़ार्थ को न देकर यौगिकार्थ को प्रकट करती हैं, इसलिए क्यों न हम प्रतिपदादि तिथियों को भी चन्द्र की कलाएँ मान लें। विराडन्तरिक्ष में उदित चन्द्र प्रति शुक्लपक्ष में पुनः पदार्पण करता है, इसीलिए उस तिथि को प्रतिपदा कहते हैं; इसी प्रकार प्रतिगृहस्थान्तरिक्ष में किसी भी तिथि को पुत्ररूप नवीन चन्द्र पदार्पण करता है, बस, वही उस बालक

की प्रतिपदा है, भले ही वह लोक में प्रचलित इतर-तिथि को ही पैदा क्यों न हुआ हो। प्रतिपदा का चन्द्र सभी के लिए वन्दनीय होता है। काव्यकार ने क्या ही अच्छा कहा है—**प्रथमदिवस चन्द्रो सर्वलोकैक वन्द्यः। स च सकल कलाभिः पूर्णचन्द्रो न वन्द्यः॥** ठीक इसी प्रकार गृहस्थान्तरिक्ष में नवोदित पुत्ररूप चन्द्र को देखकर पिता आह्लादित होकर कहता है—**आत्माऽसि पुत्र मा मृथाः स जीव शरदः शतम्। पशूनां त्वा हिङ्कारेणाभिजिघ्रामि असौ॥** इस मन्त्र को पढ़के पुत्र के शिर का आघ्राण करता है। मानो कह रहा है—**प्रतिपदे स्वाहा।**

द्वितीयायै स्वाहा—

प्रतिपदा के बीतने पर द्वितीया तिथि का चन्द्र उदय होता है, मानो द्वितीया का चन्द्र कहना चाहता है कि अन्तरिक्षलोक में पिता-सूर्य की अपेक्षा से मैं द्वितीय हूँ। पिता-सूर्य अद्वितीय है, मैं पुत्र के रूप में द्वितीय हूँ, जिस प्रकार अध्यात्म में ब्रह्म अद्वितीय है और पुत्ररूप जीवात्मा द्वितीय है। यह कहना अधिक उपयुक्त है कि गृहस्थान्तरिक्ष में पुत्ररूप चन्द्र द्वितीय है जब पूर्णिमा के दिन पिता के अनुरूप होगा, अतः कहा जाएगा—**द्वितीयायै स्वाहा।**

तृतीयायै स्वाहा—

तृतीया तिथि यह सूचना दे रही है कि गृहस्थान्तरिक्ष में माता-पिता के मध्य पुत्ररूप चन्द्र तृतीय है। ऐतरेय आण्यककार ने कहा भी है—**माता पूर्वरूपं पिता उत्तररूपं प्रजा सन्धिः।** हम ऊपर की पंक्तियों में यह स्पष्टतः दिखा आए हैं कि पति द्युलोक है, अर्थात् सूर्य-स्थानीय है और पत्नी पृथिवी-स्थानीय है। तभी तो विवाह-संस्कार में पति यह मन्त्र-चरण कहता है—'**द्यौरहं पृथिवी त्वम्**' मैं द्यु हूँ, तुम पृथिवी हो। जैसे इन दोनों का अटूट सम्बन्ध है, वैसा ही मेरा और तुम्हारा अटूट

सम्बन्ध है। इन दोनों के बीच की सन्धि चन्द्र है और उसी का प्रतीक गृहस्थान्तरिक्ष में पुत्र है। उसका देह-निर्माण माता-पृथिवी की कुक्षि से हुआ है और प्रकाश पिता-सूर्य से लेता है। वही स्थिति परिवार में पुत्र की है, यही उसकी तृतीया तिथि है, स्थिति है। अत: कहा जा सकेगा—**'तृतीयायै स्वाहा'**।

'चतुर्थ्यै स्वाहा'—

चन्द्रमा की चतुर्थी तिथि गृहस्थान्तरिक्ष के उभय-व्यक्ति माता और पिता को सूचित कर रही है कि आपके गृह में उदित पुत्ररूप चन्द्र चार तत्त्वों का मेल है। शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा, ये चार मिलकर पुत्ररूप चाँद की चतुर्थी तिथि कहलाएगी। ये चारों शक्तियाँ जब पूर्ण विकसित होंगी, तब आप कहेंगे—**'चतुर्थ्यै स्वाहा'**।

'पञ्चम्यै स्वाहा'—

चन्द्रमा की पञ्चमी तिथि यह सूचित करती है कि ऐ गृहस्थान्तरिक्ष के घटक माता-पिता! पुत्ररूप चन्द्र में यह देखो कि पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पञ्चमहाभूतों का ठीक तरह पदार्पण हुआ है या नहीं? अग्नि वाक्शक्ति बनकर मुख में बैठा कि नहीं? वायु प्राणशक्ति बनकर नथुनों में बैठा कि नहीं? आदित्य चक्षु बनकर आँखों में बैठा कि नहीं? आकाश शब्दशक्ति बनकर कानों में विराजा कि नहीं? वायु स्पर्शशक्ति बनकर त्वचा में विराजा कि नहीं? यह अध्ययन तो शिशु के जन्म होते ही उसके देहगत नवद्वार में आए हुए श्लेष्मारूप आवरण के हटा देने से ही पता चल गया था। इन सब को देखकर पञ्चमी तिथि के नाम पर दी गई आहुति सार्थक होगी, तभी कह सकोगे—**पञ्चम्यै स्वाहा।**

षष्ठ्यै स्वाहा—

इसके पश्चात् षष्ठी तिथि के नाम पर आहुति देने का

वर्णन है। पञ्चमी तिथि से जहाँ हमको बालक की पञ्चज्ञानेन्द्रियों का स्वस्थ रूप देखने का अवसर मिला, वहाँ बाह्यकरण पञ्चज्ञानेन्द्रियों के साथ-साथ—अन्तःकरण-चतुष्टय के प्रतिनिधि-रूप मन को सम्मिलित करके देखने का अवसर भी मिलना चाहिए। यही षष्ठी तिथि के नाम पर आहुति देने का औचित्य है। इसका स्पष्ट वर्णन अथर्ववेद में इस प्रकार है—**इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि। यैरेव संसृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः॥** —१९.९.५

हम दूर क्यों जाएँ, शिवसंकल्प सूक्त के प्रथम मन्त्र में ही कहा गया—**दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु।** यह हम ऊपर दिखा ही चुके हैं कि—**चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्।** यदि ब्रह्माण्डान्तरिक्ष में रात्रि के समय चन्द्रमा **ज्योतिषां ज्योति** है, तो मनुष्य-देहरूप पिण्डान्तरिक्ष में मन **ज्योतिषां ज्योति** है। पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ ज्योतियाँ हैं और मन उन ज्योतियों की भी ज्योति है। अतः कहा जा सकेगा—**षष्ठ्यै स्वाहा।**

सप्तम्यै स्वाहा—

सप्तमी तिथि के लिए तो अन्तरिक्ष में सप्तर्षि नक्षत्र विद्यमान हैं। वही मनुष्य-पिण्ड के द्युलोकरूप मुख-भाग में, इन्द्रिय-द्वारों में सप्तर्षि विद्यमान हैं। यजुर्वेद ३४-५५ में कहा भी है—**सप्त ऋषयः प्रतिहिता शरीरे सप्तरक्षन्ति सदमप्रमादम् सप्तापः स्वपतो लोकमीयुः।** अतः कह सकेंगे—**सप्तम्यै स्वाहा।**

अष्टम्यै स्वाहा—

अष्टमी तिथि के लिए यह उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार अन्तरिक्ष में सप्तर्षि-मण्डल के साथ अष्टमी ऋषिका **अरुन्धती** विद्यमान है, तद्वत् मानव-देहगत इन्द्रिय-बिलों पर विद्यमान

सप्तर्षियों के साथ अष्टमी वाग् ऋषिका विद्यमान है। अथर्ववेद (१०.८.९) में उसका मनोहारी वर्णन इस प्रकार है—

अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्। तस्यासत ऋषयः सप्ततीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना॥ अतः कह सकेंगे—**अष्टम्यै स्वाहा।**

नवम्यै स्वाहा—

नवमी तिथि के बारे में तो अतिस्पष्ट है कि जिस देह में चन्द्रमा मन बनकर विद्यमान है, उस देह को नव द्वारवाली पुरी कहते हैं, तद्यथा—**अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।**[1] इन द्वारों के माध्यम से जो भी आदान-विसर्गरूप क्रियाएँ होती हैं, वे सब केन्द्र में विद्यमान चन्द्ररूप मन की प्रेरणा से होती हैं, अतः बालक के नामकरण में नवमी तिथि का अपना ही महत्त्व है—**नवम्यै स्वाहा।**

दशम्यै स्वाहा—

दशमी तिथि के लिए अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। अतः यह बात सर्वविदित ही है कि मानव को जो दश इन्द्रियसमूह मिला है, यही इन्द्रियरूप दश अश्व इस देहरथ में जुते हैं और मन सारथि बनकर देहरथ को अभीष्ट लक्ष्य की ओर लिये जा रहा है। यजुर्वेद की ऋचा में क्या ही अच्छा कहा है—**रथे तिष्ठन्नयति वाजिनो यत्रयत्र कामयते सुषारथी। अभीषूणां महिमानं पनायत मनः पश्चादनुयच्छन्ति रश्मयः।**[2] अतः कहेंगे—**दशम्यै स्वाहा।**

एकादश्यै स्वाहा—

एकादशी तिथि यह सूचित कर रही है कि मानव-देह में दश प्राणों का निवास है, जिनके नाम इस प्रकार हैं।

---

१. अथर्ववेद १०.२.३१ २. यजुर्वेद २९.४३

१-**प्राण**, २-**अपान**, ३-**व्यान**, ४-**समान**, ५-**उदान**, ६-**नाग**, ७-**कूर्म**, ८-**कृकल**, ९-**देवदत्त** और १०-**धनञ्जय** और इनका ग्यारहवाँ अधिपति **मन** मिलाकर एकादशी तिथि के द्योतक हैं, अतः हम कह सकेंगे—ओम् **एकादश्यै स्वाहा।** इसमें अधोलिखित प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं। **प्राणापान समानो-दानव्यान नाग कूर्मकृकलदेवदत्त धनञ्जया** एते **दश वायवः सर्वासु नाडीषु चरन्ति**[१]। एवं—**मनो वै प्राणानाम-धिपतिः मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः**[२]।

द्वादश्यै स्वाहा—

द्वादश तिथि के लिए तो इतना लिखना ही पर्याप्त है कि जहाँ एकादश संख्या के लिए दश संख्यात्मक प्राणों के साथ मन को सम्मिलित किया है, वहाँ इन ग्यारह के अधिपति आत्मा को सम्मिलित कर लेने से द्वादश तिथि की सार्थकता स्वतः सिद्ध है, अतः हम कह सकेंगे—**द्वादश्यै स्वाहा।**

त्रयोदश्यै स्वाहा—

त्रयोदशी तिथि के नाम से आहुति देने में हमें तो यही औचित्य प्रतीत होता है कि मनुष्य-देह का निर्माण **पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश** और फिर इन्हीं के क्रमशः **गन्ध, रस, रूप, स्पर्श** और **शब्द** इन दशों के कारण और इनके साथ **स्थूल, सूक्ष्म** और **कारण** तीन शरीरों को मिलाकर इन तेरह शक्ति का उपभोक्ता आत्मा पुरुष विद्यमान रहता है अतः हम कह सकते हैं—**त्रयोदश्यै स्वाहा॥**

चतुर्दश्यै स्वाहा—

चतुर्दशी तिथि के लिए इतना लिखना ही पर्याप्त है कि आत्मा इस पुरुष-देह में जिन साधनों का उपयोग करता है,

---

१. शाण्डिल्योपनिषद् १.४.७ २. शतपथ ब्रा० १४.३.२.३

उनकी संख्या चौदह है। इन्द्रियरूप दश बाह्यकरण और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार-रूप अन्तःकरणचतुष्टय मिलकर चतुर्दश हुए, अतः कहेंगे—**चतुर्दश्यै स्वाहा॥**

पञ्चदश्यै स्वाहा—

पन्द्रहवीं तिथि के लिए आहुति देने में हमें तो यही उत्तर समझ में आ रहा है कि पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, **पाँच** और इनसे निर्मित घ्राण, जिह्वा, चक्षु, त्वचा एवं श्रोत्र पंचज्ञानेन्द्रियाँ और इन पञ्चज्ञानेन्द्रियों के गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द कुल मिलाकर पन्द्रह—पञ्चदश कहलाएँगे और इन्हीं के कारण हम कह सकेंगे—**पञ्चदश्यै स्वाहा॥**

पौर्णमास्यै स्वाहा—

हम तिथि के नाम पर दी जाने वाली आहुतियों के विषय में आरम्भ में ही लिख चुके हैं। इन सबकी व्याख्या का केन्द्रबिन्दु अन्तरिक्ष में विद्यमान चन्द्र है और वही चन्द्र मनुष्यदेह के हृदयान्तरिक्ष में मन बनकर बैठा है, उसी मन-रूपी चन्द्र की प्रतिपदा से लेकर पूर्णिमा तक की तिथियों की व्याख्या की गई है। उसी व्याख्या को गृहस्थान्तरिक्ष में उदित पुत्ररूप चन्द्र में घटित कर सके तो वह भी अपने पिता-सूर्य के आकार के सदृश पूर्ण हो जाएगा। अतः आवश्यक समझते हैं कि हम मन की सोलह कलाओं का वर्णन करें।

मन की सोलह कलाएँ—

आइये, अब हम ऐतरेयारण्यककार[1] एवं ऐतरेयोपनिषद्[2] के आधार पर वर्णित उन भेदों को उपस्थित करते हैं। यदैतत् हृदयम्। १-**संज्ञान,** २-**अज्ञान,** ३-**प्रज्ञान,** ४-**विज्ञान,**

---

१. ऐतरेय आरण्यक २.६

२. ऐतरेय उप० ५.२

५-**मेधा**, ६-**दृष्टि**, ७-**धृति**, ८-**मति**, ९-**मनीषा**, १०-**जूति**, ११-**स्मृतिः**, १२-**संकल्प**, १३-**क्रतुः**, १४-**अंशुः**, १५-**काम**, १६-**वश**, ये सब सोलह मन के भेद हैं, अतः यजमान कह सकेगा—**पूर्णमास्यै स्वाहा।** इस प्रकार वैदिक वाङ्मय में क्षेत्र-भेद से सोलह कलाओं का अनेकशः वर्णन है। वैदिकी दैनिक संध्या में इन्द्रिय-स्पर्श मन्त्र में इन कलाओं का मनोहारी वर्णन इस प्रकार है—**वाक् वाक्** २, **प्राणः प्राणः** २, **चक्षुः चक्षुः** २, **श्रोत्रम् श्रोत्रम्** २=८ **नाभिः**-१, **हृदयम्**-१, **कण्ठः**-१, **शिरः**-१=१२, **बाहुभ्यां यशोबलम्**-२१, **करतल करपृष्ठे**-२=१६ ये पुरुष की सोलह कलाएँ हो गईं, अतः कह सकेंगे—**पौर्णमास्यै स्वाहा।**

हमने यथामति **नक्षत्र** और **तिथि** से सम्बद्ध आहुति देने के औचित्य पर पर्याप्त विचार प्रस्तुत कर दिया है। विद्वज्जन इस पर अपने विचार प्रस्तुत कर हमारा मार्गदर्शन करें जिससे कि अगले संस्करण में उनका उपयोग किया जा सके।

इसके पश्चात् महर्षि दयान्द स्विष्टकृत् आहुति का विधान करते हैं। उनका विधिवाक्य इस प्रकार है—**तत्पश्चात् पृष्ठ ३३ में लिखी हुई स्विष्टकृत मन्त्र से एक आहुति और पृष्ठ ३३ में लिखे प्रमाणे चार व्याहृति-आहुति दोनों मिलके पाँच आहुति देवें।** स्विष्टकृत् आहुति के विषय में महर्षि दयानन्द सामान्य प्रकरण में लिखते हैं—**स्विष्टकृत होमाहुति एक ही है। यह घृत की अथवा भात की** देनी चाहिए। उसका मन्त्र इस प्रकार है—

स्विष्टकृताहुतिः—

ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्यात्सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे। **अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्द्धयित्रे**

सर्वान्नः कामान् समर्धय स्वाहा। इदमग्नये स्विष्टकृते, इदन्न मम[1] ॥

अर्थ—**यत्** जो **अस्य** इस **कर्मणः** कर्म के सम्बन्ध में **अति-अरीरिचं** विधि से अधिक कर चुका हूँ, **वा** या **इह** इसमें **न्यूनं** कम **अकरं** कर बैठा हूँ। **स्विष्टकृत्** यज्ञ को पूर्ण करनेवाला **अग्निः** भौतिक और आत्मिक अग्नि **मे** मेरा **तत्** वह **स्विष्टं** अच्छे प्रकार यज्ञ किया हुआ **सुहुतं** अच्छे प्रकार होमा हुआ **करोतु** करे। **अग्नये** अग्नि के लिए जो **स्विष्टकृते** यज्ञ को ठीक बनानेवाला **सुहुतहुते** आहुति को ठीक करने-वाला और **सर्व-प्रायश्चित्त-आहुतीनां** सारी पाप की प्रतीकाररूप आहुतियों का **कामानां** सब कामनाओं का **समर्द्धयित्रे** सफल करनेवाला है, (यह आहुति दे रहा हूँ)। हे (अग्ने) **नः** हमारी **सर्वान्** सारी **कामान्** कामनाओं को **समर्द्धय** परिपूर्ण करो। **स्वाहा** यह मेरी वाणी सत्य हो। यह स्विष्टकृत् अग्नि के लिए समर्पण कर चुका हूँ, इस पर मेरा कोई स्वत्व नहीं है ॥५॥

भाव—त्रुटि या अशुद्धि का हो जाना मनुष्य के स्वभाव में है। अतः कर्म करके सदा पूर्णतया आत्म-समर्पण करना चाहिए। भगवान् ही हमारी त्रुटि को पूरा कर और करा सकते हैं। इस मन्त्र को कुछ विद्वान् अग्निहोत्र के अन्त में पढ़ते हैं। परन्तु ऋषि दयानन्दजी ने एक प्रकार से सामान्य कर्म के अन्त में ही रखा है। अगले आज्याहुति के मन्त्र विशेष-विशेष समयों पर ही पढ़े जाते हैं ॥५॥

---

१. इसी प्रकार का मन्त्र शत० १४।९।४।२४, आपस्तंब गृह्य० १।२।७ में संक्षिप्त रूप से आया है। पारस्कर और हिरण्यकेशी में केवल इतना भेद है कि विद्यात् के स्थान पर 'विद्वान्' है।

'स्विष्टकृत्' शब्द का अर्थ—

यजमान के दो उद्देश्य हैं—एक इष्ट, दूसरा आपूर्त।

यजमान अग्न्याधान के पश्चात् अग्नि को प्रदीप्त करते हुए मन्त्र बोलता है—**उद्‌बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते संसृजेथामयञ्च**[१]। इस मन्त्र में यजमान के इष्ट और आपूर्त दोनों की सर्जन करने की बात कही गई है। **इष्ट** शब्द का अर्थ है—जो यजमान को अभिलषित है, जो उसकी कामना है, जो यजमान की चाहना है अर्थात् अभिलषित कामना। उस अभिलषित कामना को सुव्यवस्थित करने के लिए **स्विष्टकृत्** आहुति का विधान है। इस यज्ञ-कर्म में यदि कुछ न्यून रह गया हो, अथवा अधिक हो गया हो, तो अभीष्ट फल की प्राप्ति संभव न होगी। अतः स्विष्टकृत् मन्त्र द्वारा उसे सुनियन्त्रित कर रहा है। अतः कहा है—**यद्वा न्यूनं इह अकरं यद्वा अति अरीरिचम्**—जो भी इस कार्य में न्यूनता रह गई है अथवा अतिक्रमण हो गया है, उसे मेरे **अग्रणी परमात्मा** अथवा तत्प्रतिनिधिभूत **पुरोहित, आचार्य** जनावें जिससे मैं उसे '**सु-इष्टकृत्**' कर सकूँ—उसका सन्तुलन बना सकूँ। इस द्वन्द्व के सहने की शक्ति प्राप्त हो। किसी भी द्वन्द्व को सहन कर सकने का नाम स्विष्टकृत् है। दर्शनकार ने कहा भी है—'**द्वन्द्व सहनं तपः**[२]'। श्रीकृष्ण ने गीता में इसका उल्लेख इस प्रकार किया है—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन[३]**॥**

---

१. यजुर्वेद अ० १५-५४

२. योगद० समाधिपाद-सू० २

३. भगवद्‌गीता-अध्याय ६.१६

प्रिय सखे! अर्जुन!

अति और सर्वथा परित्याग का नाम योग नहीं है। इन दोनों के बीच में सन्तुलन बना लेना **योग** है। इसलिए महामुनि पतञ्जलि ने अपने दर्शनशास्त्र में कहा—'**योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः**'। चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम योग है और चित्त की वृत्तियों का निरोध तप के द्वारा ही सम्भव है।

स्विष्टकृत् आहुति में इसी भावना की ओर **सर्वप्रायश्चि-त्ताहुतीनां** मन्त्र-वाक्य द्वारा संकेत किया है। **चित्तवृत्तिनिरोध** कहिए, अथवा **प्रायश्चित्त** कहिए, बात एक ही है। प्रायश्चित्त शब्द का अर्थ शोक मनाना नहीं है, अपितु आगे बढ़ने का निश्चय है। **प्र+अयः+चित्त=प्र-अग्रे, अयः** गमनाय, **चित्त**-दृढ़निश्चयः। अब तक जो मेरे कार्य में न्यूनता अथवा अधिकता हो गई है उसको मैं ठीक करूँगा, सन्तुलित करूँगा। इसी के लिए आगे बढ़ने का निश्चय करूँगा।

घृत वा भात की आहुति—

महर्षि लिखते हैं स्विष्टकृत होमाहुति एक ही है, यह घृत की अथवा भात की होनी चाहिए। यहाँ पर भात उन पके हुए चावलों का द्योतक है, जो पाकशाला में **न्यून** और **अति** को **स्विष्टकृत्** कर देते हैं। इन्हें ही वैदिक ऋचाओं में **ओदन** कहा गया है। ओदन शब्द—'उन्दि क्लेदने' धातु से बना है। चावल जब भी गीली अवस्था में होगा तो वह दुग्ध का रूप धारण कर लेगा। चाहे पौधे पर लगे बाली के रूप में हों अथवा हण्डिया में पक रहे हों। बाली के रूप में जब कच्चिया अवस्था में होता है, तो भी दूध से भरा होता है। जब पात्र में पक रहा होता है तो पात्र भी दूध से भरा होता है। यही भात न्यून और अति को सन्तुलित कर लेता है। पाकशाला में इसका होना अत्यावश्यक है।

यद्वा न्यूनमिह अकरम्—

आज गृहपति के साथ चार बन्धु और आ गए। आते ही गृहपति ने अपनी पत्नी से कहा—देवि! आज चार व्यक्तियों का अतिरिक्त भोजन होगा। गृहदेवी ने सोचकर उत्तर दिया—आप बैठिए, अभी तैयार हो जाता है। गृहदेवी ने तत्काल चावल चढ़ा दिये, भात तैयार हो गया। भोजन सन्तुलित हो गया, न्यूनता को सन्तुलित कर दिया गया।

यद्वा अति अरीरिचम्—

आज गृहपति के पुत्र को ज्वर हो गया है। घर के निकट ही वैद्य रहते हैं, उन्हें बुलाया गया। वैद्य जी ने नाड़ी पर हाथ रखा, जीभ देखी, पेट को टटोला और पूछा—बेटा! भोजन में क्या-क्या लिया था? उसके वर्णन से पता चला कि वह अतिभक्षण कर गया है। वैद्यजी ने औषध दी और साथ में यह भी कहा—'आज भोजन न करो तो अच्छा है। यदि न रहा जा सके तो भात ले सकते हो। और कुछ नहीं, अति हो गया है, इसे स्विष्टकृत कर लो।' इस प्रकार भात ने सन्तुलित कर दिया। हम ऊपर की पंक्तियों में लिख चुके हैं कि चावल जब गीली अवस्था में होगा तो दूध का रूप धारण कर लेगा। वास्तव में भात अथवा घृत की आहुति देने का प्रयोजन वही है जिसका संकेत महर्षि याज्ञवल्क्य ने महाराजा जनक के प्रश्न किये जाने पर उत्तर दिया था **'पय एव इति'** दूध ही बस। इस संकेत का यही अभिप्राय है कि भात उन सब वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करता है जो दूध के रूप में परिवर्तित हो सके, और घृत उस दूध की पराकाष्ठा है। अब यह यजमान पर निर्भर करता है कि स्विष्टकृत् आहुति किस पदार्थ से दे—उससे कि जो प्रथम दूध रूप में हो। उसके परिवर्तित रूप को यदि पुनः घोलकर देखा जाए तो वह दुग्धरूप में परिवर्तित

हो जाए। अधिप्रज कक्षा में **ओदन** वीर्य का प्रतीक है।[१]

सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम।

प्रजा के कारण हम सुप्रजावान् कहलाएँ। प्रजा शब्द में 'प्र' उपसर्ग का अपना ही महत्त्व है। केवल जन ही नहीं, अपितु प्र+जनन, अपने से प्रकृष्ट उत्पत्ति; इस प्रकृष्ट जनन के कारण ही सुप्रजावान् कहला सकेंगे। अब तो जनन से पूर्व उपसर्ग आ जुड़ी। 'सु' और 'प्र' की भावना को ऋग्वेद के ऋषि ने **दिव्य** विशेषण में समेट दिया है। उसका आदेश है—**जनया दैव्यं जनम्**[२]—दिव्य जन को जन्म दो।

आचार्य द्वारा दीक्षा—

आचार्य नवस्नातक को दीक्षान्त में आदेश देता है—**प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः**[३]—प्रजा के तन्तु को बीच में ही न तोड़ देना। मानो आचार्य द्वारा कहा गया यह भाषण ऋग्वेदीय दीक्षान्त भाषण की पुनरावृत्ति हो। अग्निऋषि के स्नातक होने पर ब्रह्म ने उसकी अन्तर्गुहा में यह मन्त्र-चरण उच्छ्वसित किया था—**तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि**[४]—भानु की भाँति तुम भी कुल-तन्तु को अपनी प्रजा में संक्रान्त करना जिससे प्रजा चन्द्ररूप धारण कर ले और तुम भी सुप्रजावान् कहलाओ। यह होगा—**रजसो मा, सत्त्वं गमय।**

प्रजननं वै प्रतिष्ठा—

जब स्नातक गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है तो प्रजनन ही उसकी प्रतिष्ठा का कारण बनता है। तैत्तिरीय ब्राह्मणकार ने

---

१. विष्टारिण**मोदनं** ये पचन्ति नैनान्यमः परिमुष्णाति रेतः।
—अथर्व० ४.३४.४

२. ऋ० १०-५३-६

३. तै०आ० ७-११-१, तै०उ० १-११-१

४. ऋ० १०-५३-६

क्या ही अच्छा कहा है—**प्रजननं वै प्रतिष्ठा, लोके साधु प्रजातन्तुं तन्वानः पितृणां अनृणो भवति। तद् एव अनृणम् तस्मात् प्रजननं परमं वदन्ति[१]।**

अर्थ—प्रजा उत्पन्न करना निःसन्देह लोक में उत्तम प्रतिष्ठा है। प्रजा-तन्तु का विस्तार करता हुआ ऋणमुक्त होता है। (प्रजा उत्पन्न करना) निश्चय ही उस गृहस्थ व्यक्ति का ऋणमुक्त होना है। तभी तो प्रजा को उत्पन्न करना सबसे श्रेष्ठ माना गया है।

प्रजनन के लिए जाया का लाभ परम आवश्यक है—

प्रजा शब्द 'प्र-पूर्वक जनि प्रादुर्भावे' से निष्पन्न हुआ है। यह सूचित करता है कि अपनी प्रादुर्भूति के पूर्व पुरुष अपने-आप में अपूर्ण है, वह अधूरा है। अपने को पूर्ण करने के लिए अपने साथ जाया-रूप में आधे भाग को और जोड़े। शतपथकार के अधोलिखित वचन स्वर्णिम अक्षरों में लिखे जाने योग्य हैं—**अर्धो वा एष आत्मनो यज्जाया। तस्मात् यावत् जायां न विन्दते न एव तावत् प्रजायते। असर्वो हि तावद् भवति[२]।**

अर्थ—यह जो जाया स्त्री है, वह निश्चय ही अपने-आपका, पुरुष का आधा भाग है। पुरुष जब तक जाया का लाभ नहीं करता, तब तक वह निश्चय ही अपने-आप को पैदा नहीं कर सकता। निःसन्देह तब तक वह अपूर्ण ही रहता है।

अथ यदा एव जायां विन्दते अथ प्रजायते तर्हि हि सर्वो भवति। तस्मात् जायां विन्देत् नेद् असर्व स्यात्।[३]

अर्थ—और जब जाया का लाभ करता है, तभी वह

१. तैत्तिरीय आ० १०-६३

२. शत० ब्रा० ५-१-१०

३. शत० ब्रा० ५-२-१,१०

अपने को उत्पन्न करता है, अर्थात् प्रजावाला होता है, तभी वह पूर्ण होता है। इसलिए पुरुष (स्त्री) जाया का लाभ करे; अपूर्ण न रहे। शतपथकार ने विश्वासपूर्वक कहा—

प्रजया हि मनुष्य पूर्णः[१]। सर्वं वै पूर्णम्[२]॥

प्रजा से ही मनुष्य पूर्ण होता है। जो सबके साथ है वह ही पूर्ण है। इसलिए हम कहते हैं—**सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम**[३]— हम प्रजाओं के सुप्रजावान् होवें।

सुवीरो वीरैः स्याम[४]—

हम वीर पुत्रों से सुवीर कहावें। हम ऊपर की पंक्तियों में दिखा चुके हैं कि गृहस्थ व्यक्ति को मात्र जन ही उत्पन्न नहीं करने, अपितु सुप्रजा उत्पन्न करनी है, जिसे दिव्य प्रजा कहा जा सके। इस दिव्य विशेषण में वीर, धीर, गम्भीर, शूर आदि सभी भाव निहित हैं। इसलिए नामकरण-संस्कार से पूर्व पुंसवन, सीमन्तोन्नयन और जातकर्म इन तीनों संस्कारों में वीर पुत्र होने की कामना की गई है, तद्यथा—पुंसवन में '**आवीरो जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः स्वाहा**[५]।' सीमन्तोन्नयन में ऋग्वेद में वर्णित '**सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यं स्वाहा**'[६] मन्त्र द्वारा वीर पुत्र की कामना की गई है, संस्कार की समाप्ति पर वृद्ध स्त्री लोग ऐसा आशीर्वाद देवें—**ओम् वीरसूस्त्वं भव, जीवसूस्त्वं भव, जीवपत्नीस्त्वं**

---

१. तै०ब्रा० ३.३.१०
२. श०ब्रा० ५.२.३.१
३. यजुः० अ ७, मं० २९
४. यजुः० अ० ७, मं० २९
५. अथर्ववेद ३.२३.२
६. आश्व० गृ० सू० १.१४.२

भव[1]। जातकर्म-संस्कार में यह विदित है कि उपरिवर्णित मन्त्रों को पढ़के पुत्र के शिर का आघ्राण करें अर्थात् सूँघें—**'ओम् इडाऽसि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथाः। सा त्वं वीरवती भव याऽस्मान् वीरवताऽकरोत्।'**

उपरिवर्णित आशीर्वचनों का क्रमशः अर्थ इस प्रकार है।

१—**पुंसवन** में—**'ते'** तेरी कुक्षी से **'दशमास्यः वीरः पुत्रः आ जायताम्'** दशमासवाला, परिपक्व अवस्थावाला वीर पुत्र उत्पन्न हो।

२—**सीमन्तोन्नयन** में—पति अपनी पत्नी के केशों के स्वयं अपने हाथों से सँवारकर बाँधता है तथा कहता है कि जिस प्रकार तेरे सीमन्त केशों के नीचे शिर के पाँच अथवा अष्ट कपालों को ब्रह्म ने अज्ञात सूई के द्वारा सिया है, उसी प्रकार तुम्हारी कुक्षि में रहनेवाले गर्भ के मस्तिष्क का निर्माण होता है। परमात्मा उसके मस्तिष्क के कपालों को भी बिना छेद किये हुए सी देवे। और 'शतदायम्' सौ हाथों से संसार का उपकार करनेवाले 'उक्थ्यम्' जिसकी सत् सर्वत्र यशोगाथा गाई जावे ऐसे शूरवीर पुत्र को समाज को भेंट करे। संस्कार के अंत में तभी तो कहा गया कि समीप बैठी हुई उत्तम स्त्री लोग ऐसा आशीर्वाद देवें—तू वीर सन्तान को उत्पन्न करनेवाली हो, तू जीवित सन्तान उत्पन्न करनेवाली हो और जीवित रहनेवाले पति की पत्नी हो।

३—**जातकर्म**-संस्कार में बालक को प्रथम दुग्धपान कराने से पहले पति अपनी पत्नी की प्रशंसा में कहता है—'वीरे!' हे वीरे! तू **मैत्रावरुणी** मित्र और वरुणवाली **'इडाऽसि'** साक्षात् बुद्धिमती है, **'वीरम्'** वीर पुत्र को **'अजीजनथाः'** तूने

---

१. गो० गृ० सू० २-७-१२

जन्म दिया है **'याऽस्मान्'** जिसके कारण हमें **'वीरवतः अकरोत्'** वीर संतानवाला बनाया है, **'सा त्वम्'** वह तू वीर पुत्रवाली **'भव'** हो।

संस्कार की समाप्ति पर कहा—**वीरा बहवो भवन्तु** मेरे घर में वीर तथा पराक्रमी पुत्र-पौत्र हों। इन सब आशीर्वचनों और शुभ कामनाओं से पिता की नामकरण-संस्कार में **'सुवीरो वीर स्याम'**—'वीर पुत्रों से हम सुवीर कहलावें' सिद्ध हो सकेगी।

पौषैः सुपोषः स्याम—

पुत्र को गोदी में लिये हुए नासिका-स्पर्शपूर्वक वह अन्तिम कामना करता है कि हे पुत्र! जहाँ हम तुझ जैसी प्रजाओं के कारण **सुप्रजावान्** हों, तुझ जैसे वीरों के कारण **सुवीर** कहलाएँ, वहाँ तेरे जैसे व्रतों, संकल्पों, और परम्पराओं के पोषक पुत्रों के कारण **सुपोषक** कहलाएँ।

इसकी पुष्टि में जो कुछ प्रमाण दिये हैं उनसे भिन्न वेदों में शतशः प्रमाण मिलते हैं जिनमें वीर पुत्र-पुत्रियों की कामना की गई है। विस्तार-भय से अधिक न कहते हुए **आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्**......... इस विश्व-गीत के आधार पर विश्व-पुरोहित द्वारा की गई कामना को उद्धृत करते हैं—

जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्[१]।

मेरे इस यजमान के पुत्र जयशील हों, रथों को अधिकारपूर्वक संचालन करने में समर्थ हों, सभाओं में बैठने योग्य सभ्य हों। भद्रताओं से युक्त और दुरितों से वियुक्त रहनेवाले युवा हों, शत्रुओं को कंपा देनेवाले वीर हों।

---

१. यजुर्वेद २२-२२

पूष्णोः हस्ताभ्याम्—

पूषा का काम किसी भी पदार्थ का पोषण करना है। पोषण के लिए दो हाथों की आवश्यकता होती है। इसीलिए स्वयं यजुर्वेद-मन्त्र में कहा—**पूष्णोः हस्ताभ्याम्**—पूषा देवता के दो हाथ हैं। दो हाथ इसलिए आवश्यक हैं कि एक हाथ से पोष्य व्यक्ति को धारण करे और दूसरे हाथ से पोषण दे, थपकी दे। जिस प्रकार माता-पिता अपने बालक को एक हाथ से धारण करते हैं और दूसरे हाथ से थपकी देकर सहलाते, बतियाते, खुजलाते, सुलाते हैं उसी प्रकार अपने पोष्य-व्यक्ति का पोषण करें। जैसा कि अभी-अभी नाम रखने से पूर्व बालक की माता ने नहला-धुलाकर उसे अपनी गोदी में लिया, फिर उसी प्रकार उसके शिर को उत्तर दिशा की ओर रख पिता की गोदी में दे दिया और वैसे ही उत्तर दिशा में बिछे हुए आसन पर बैठी उसकी माता की गोदी में दे दिया, और फिर पुरोहित जी के आदेशानुसार बालक के नासिकाग्र-भाग पर हाथ रखकर **कोऽसि कतमोऽसि कस्याऽसि** मन्त्र का उच्चारण किया—यह सब पूषादेवता के दोनों हाथों से हो रहा था। इसलिए कहा—**पूष्णो हस्ताभ्याम्।** माता-पिता बालक से यह आशा रखते हैं **सुपोषः पोषैः**—तेरे पोषक होने के कारण हम भी पोषक कहलाएँ।

अदन्तकः पूषा—

पूषा देवता के जहाँ दो हाथ हैं वहाँ ब्राह्मणकार ने कहा कि—पूषा के दाँत नहीं हैं। दाँत न होने का अभिप्राय है तर्क न करना; आदेश का पालन। बालक का पोषण करते हुए उसके नव द्वारों पर यदि मल आ गया है तो माँ उससे घृणा नहीं करती और उसे स्वयं साफ़ करती है। यजुर्वेद के छठे अध्याय के चौबीसवें मन्त्र का, जिसकी देवता आपाएँ हैं,

आपः शब्द स्त्रीलिङ्ग नित्य-बहुवचनान्त है, एक तरह से माँ का ही रूप है। माता-पिता स्वयं आपः बनकर कह रहे होते हैं—**वाचं ते शुन्धामि, प्राणं ते शुन्धामि, चक्षुस्ते शुन्धामि, श्रोत्रं ते शुन्धामि, नाभिं ते शुन्धामि, मेढ्रं ते शुन्धामि, पायुं ते शुन्धामि, चरित्राँस्ते शुन्धामि,** इसी प्रकार पन्द्रहवें मन्त्र के माध्यम से वे कहते हैं—**मनस्त आप्यायतां वाक् त आप्यायतां प्राणस्त आप्यायतां चक्षुस्त आप्यायतां श्रोत्रं त आप्यायताम्। यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्त आप्यायतां निष्ट्यायतां तत्ते शुध्यतु शमहोभ्यः॥ १५॥**[१] ये सब प्रक्रियाएँ पूषा देवता की कार्य-सूचक हैं।

हे प्रिय पुत्र! तुम आज हमारी गोदी में हो और हमारा कर्तव्य है कि हम तुम्हारा पोषण करें। इस पोषण-प्रक्रिया के द्वारा तुम हमारे सामने ही शैशव अवस्था से कौमार्य अवस्था और कौमार्य अवस्था से यौवन अवस्था को प्राप्त होओगे और फिर एक अवस्था आएगी कि जब कोई युवती तुम्हें वरण करेगी और उसके पिता उसके हाथों को तुम्हारे हाथों में सौपेंगे। तब वह गृहिणी, और तुम गृही बन जाओगे और प्रजापति देवता की स्वीकृति मिलने पर तुम्हारी गोदी में भी प्रजा विश्राम कर रही होगी और तुम भी यही प्रक्रिया कर रहे होंगे जो आज हम कर रहे हैं। उस समय तक हम वृद्ध हो जाएँगे। हमारी संज्ञा पितर हो जाएगी। तुम भी इस मन्त्र को बोलोगे—**सुपोषः पोषैः।** अपने पोषण द्वारा हम सुपोषक कहलाए, तब तुम्हारा कर्तव्य होगा कि तुम पूषा देवता की आराधना करते हुए अपने दोनों हाथों से हमें धारित और पोषित करोगे। सम्भवतः अपनी गोदी में भी हमें लोगे, कदाचित् हमारे नवद्वारों पर आए हुए मल को भी अपने

---

१. यजुर्वेद ६-१५

श्रद्धामय हाथों से दूर करोगे। यही तुम्हारा पितृश्राद्ध होगा।

शतपथकार ने मनुष्य-जाति को सावधान करते हुए कहा है—**पूर्ववयसे पुत्राः पितरम् उपजीवन्ति, उत्तरे वयसे पुत्रान् पिता उपजीवन्ति।** पहली अवस्था (बाल्यावस्था) में पुत्र पिता का आश्रय लेते हैं, उत्तर अवस्था मेंं पिता पुत्रों का आश्रय लेता है। **अत्र एतं आशीर्मन्त्रं पठन्ति—**

अङ्गादङ्गाद् संस्रवसि हृदयादधि जायते।
प्राणं ते प्राणेन सन्दधामि जीव मे यावदायुषम्।[१]

इस प्रकार यजुर्वेद अध्याय सात मन्त्र उन्नीस में वर्णित **भूर्भुवः स्वः सुप्रजा प्रजाभिः स्याम सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः** की यथामति यथा ऊहित व्याख्या हो गई। यदि इस व्याख्या को **देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम् पूष्णो हस्ताभ्याम्** से संगत करके देखें तो मन्त्र का उच्चारण करनेवाला पिता **सविता** देव की **प्रेरणा** से सुप्रजावान् **अश्विनौ** देवता की **भुजाओं** से सुवीर और **पूषा** देवता के **हाथों** से सुपोषक बनेगा।

हमने यहाँ **सुप्रजा** से **ब्राह्म शक्ति, सुवीर** से **क्षात्र शक्ति** और **सुपोषः** से **वैश्य-शक्ति** ग्रहण की है। हम ऊपर लिख आए हैं कि राष्ट्र को **शिक्षक, रक्षक, पोषक** एवं **सेवक** की आवश्यकता है। सेवा वह गुण है जो शिक्षक, रक्षक एवं पोषक में भी अनिवार्य है। ऋग्वेद के प्रमाण से हम यह लिख चुके हैं कि **प्रजा** शब्द में प्र उपसर्ग का जो महत्व है उसे दिव्य शब्द में सँजोया गया है—**जनया दैव्यं जनम्।** जिस व्यक्ति का दिव्य जन्म हो उसे द्विज कहना चाहिए, द्विजों में जो सर्वोपरि है उसकी संज्ञा **ब्राह्मण** है, इसी शब्द को **सुप्रजा**

---

१. म० ब्रा० १-५-१६

शब्द में देखा जा सकता है, **क्षत्रिय** को सुवीर में देख सकते हैं, **वैश्य** व्यक्ति के लिए स्पष्ट ही सुपोषः विशेषण पड़ा ही हुआ है।

नामकरण पर ऋषि दयानन्द—

महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि में नाम रखने का उल्लेख करते हुए विधान किया है कि पुत्र हो तो नीचे लिखे प्रमाणे दो अक्षर का वा चार अक्षर का, घोषसंज्ञक और अन्तःस्थ वर्ण अर्थात् पाँचों वर्गों के दो-दो अक्षर छोड़कर तीसरा-चौथा पाँचवाँ और **य, र, ल, व** ये चार वर्ण नाम में अवश्य आवें, जैसे—**देव** अथवा **जयदेव**। ब्राह्मण हो तो **देवशर्मा,** क्षत्रिय हो तो **देववर्मा,** वैश्य हो तो **देवगुप्त** और शूद्र हो तो **देवदास** इत्यादि। इस उल्लेख से जन्मना वर्णव्यवस्था को माननेवाले पौराणिक भाई ये आपत्ति करते हैं कि, अन्ततः ऋषि दयानन्द ने भी **जन्मना-वर्णव्यवस्था** को मानकर ही ऐसा विधान किया है। अभी तो बालक ११ दिन का, १०१ दिन का, अथवा १ वर्ष का हो पाया है, यह कैसे मान लिया जाए कि ब्राह्मण हो तो देवशर्मा, क्षत्रिय हो तो देववर्मा, वैश्य हो तो देवगुप्त और शूद्र हो तो देवदास।

भ्रम-निवारण—

उपरिवर्णित शङ्का का समाधान हमारी समझ में यह आता है कि यदि बालक का पिता ब्राह्मण हो तो—देवशर्मा, बालक का पिता क्षत्रिय हो तो—देववर्मा, यदि बालक का पिता वैश्य हो तो—देवगुप्त, यदि बालक का पिता शूद्र हो तो—देवदास रखें। भगवान् मनु ने उपनयन संस्कार-विषयक 'यह विधान किया है कि **ब्रह्मवर्चस् कामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे। राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे।** यह विधि-श्लोक जन्मना

वर्णव्यवस्था का निषेध करता है कि **ब्रह्मवर्चस्** की कामनावाला ब्राह्मण पिता, अपने पुत्र का यज्ञोपवीत ५वें वर्ष में कराए। **बलार्थी** राज्य की कामना करनेवाला क्षत्रिय पिता, अपने पुत्र का यज्ञोपवीत ६ठे वर्ष में कराए, और **ऐश्वर्य** एवं व्यवहार-व्यापार की कामनावाला वैश्य पिता, अपने पुत्र का यज्ञोपवीत संस्कार ८वें वर्ष में कराए। यहाँ यह नहीं कहा गया कि ब्राह्मण बालक का उपनयन ५वें वर्ष में हो, इत्यादि। यहाँ तो स्पष्ट है कि **ब्रह्मवर्चस् कामस्य** है। कोई भी पिता किसी भी वर्ण का ही क्यों न हो, उसे राष्ट्रोपयोगी, एवं समाजोपयोगी कामना करने की स्वतन्त्रता है। यजुर्वेद के २२वें अध्याय के २२वें मन्त्र में सार्वभौम-राष्ट्रियप्रार्थना में ब्राह्मण को ब्रह्मवर्चसी होना लिखा है। क्षत्रिय राजन्य को शूर, इषव्य, अतिव्याधि, और महारथ, होना आवश्यक है। इन गुण-कर्म-स्वभावों के होने पर ही कोई व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो सकता है, जन्मना नहीं। भगवान् मनु ने मन्त्र-वर्णित **ब्रह्मवर्चसी** की भावना **ब्रह्मवर्चस् कामस्य** में विहित कर दी है। क्षत्रिय राजन्य के समस्त गुणों को **बलार्थी** शब्द में समेट दिया है। इसी प्रकार वैश्य की समस्त कामनाओं को **इहार्थी** पद में विहित कर दिया है। श्लोक में आए हुए काम और अर्थी शब्दों पर ध्यान देने पर यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि यदि पिता ब्राह्मण हो और वह ब्रह्मवर्चस् की कामनावाला पुत्र चाहता हो तो उसका नाम देवशर्मा रखें। यदि कोई क्षत्रिय पिता मन्त्रोक्त गुणों वाला बालक चाहता हो तो देववर्मा नाम रखें। देवगुप्त और देवदास नामों के साथ भी यही शैली समझ सकते हैं। शर्म, वर्म, गुप्त आदि नाम अथवा उपाधि आचार्य द्वारा दिये गए द्वितीय जन्म के नामकरण की द्योतक हैं।

द्विविध जन्म—

व्यक्ति के द्विविध जन्म माने गए हैं। एक शारीर-जन्म दूसरा विद्याजन्म। यह शारीर-जन्म के पश्चात् होनेवाले नामकरण का समय है। शर्म, वर्म, गुप्त आदि नाम तो विद्यातः जन्म के सूचक हैं। नामकरण की यह वेला जहाँ परिवार के लोगों की भावना से भावित है कि हमारा पुत्र समाज का कौन-सा अङ्ग बनकर राष्ट्रोपयोगी होगा, वहाँ समाज भी प्रत्येक परिवार से यह कामना करता है कि समाज को चार प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकता है—**सेवक, पोषक, रक्षक** एवं **शिक्षक।** इसीलिए संस्कार में अभ्यागत बन्धु-बान्धव, इष्ट-मित्र अपने आशीर्वचन में इन भावनाओं की अभिव्यक्ति करते हैं। नामकरण में दिये गए चार आशीर्वचन उन्हीं चार भावनाओं की अभिव्यक्ति हैं। तद्यथा—महर्षि लिखते हैं—तत्पश्चात् कार्यार्थ आए हुए मनुष्यों का आदर-सत्कार करके विदा करें और सब लोग जाते समय पृष्ठ-९,१२ में लिखे प्रमाणे परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना उपासना करके बालक को आशीर्वाद देवें—

"हे बालक! त्वमायुष्मान् वर्च्चस्वी तेजस्वी श्रीमान् भूयाः।"

इस प्रकार आशीर्वचन में **आयुष्मान्** शूद्र के लिए, **वर्च्चस्वी** ब्राह्मण के लिए, **तेजस्वी** क्षत्रिय के लिए और **श्रीमान्** वैश्य के लिए विहित है। हमें इस आशीर्वचन में भी गुण-कर्मानुसार वर्णव्यवस्था दृष्टिगोचर हो रही है।

जिस दिन जन्म हो, उस दिन से लेकर दस दिन छोड़कर ग्यारहवें वा एक सौवें अथवा दूसरे वर्ष के आरम्भ में जिस दिन बालक का जन्म हुआ हो, नाम धरे। जो पुत्र हो तो नीचे लिखे प्रमाणों से दो अक्षर वा चार अक्षर का, घोषसंज्ञक और अन्तस्थवर्ण और ह एक ऊष्म अक्षर और स्वरों में कोई भी

एक स्वर हो। पुरुषों के समाक्षर नाम और स्त्रियों के विषमाक्षर नाम रखें, अन्त में दीर्घस्वर और तद्धितान्त भी होवें। यह संस्कारविधिगत नामकरण-संस्कार के आरम्भ में महर्षि दयानन्द ने गृह्य सूत्रों के आधार पर लिखा है।

तद्यथा—**द्व्यक्षरं प्रतिष्ठाकामः चतुराक्षरं ब्रह्मवर्चस् कामः**[1]।

इस विधि में अधोलिखित संप्रश्न विचारणीय हैं—

१—बालक का पिता यदि प्रतिष्ठावान् पुत्र की कामना करता हो तो अपने पुत्र का नाम दो अक्षरों वाला क्यों रखें?

२—बालक का पिता यदि ब्रह्मवर्चसी पुत्र की कामना करता हो तो अपने पुत्र का नाम चार अक्षरों वाला क्यों रखें।

इस विधान में क्या हेतु है, क्या औचित्य है?

३—नाम रखते हुए **घोष** अर्थात् वर्गों के तीसरे, चौथे, पाँचवें **ग, घ, ङ, ज, झ, ञ, ड, ढ, ण, द, ध, न, ब, भ, म,** ये **स्पर्श** और **य, र, ल, व,** ये चार **अन्तस्थ** और **ह** एक **ऊष्माक्षर** नाम में अवश्य होने चाहिएँ। इनके होने में क्या हेतु एवं क्या औचित्य है?

४—पुत्र के नाम में समाक्षर क्यों होने चाहिएँ और पुत्री के नाम में विषमाक्षर क्यों होने चाहिएँ?

सम्भावित समाधान—

१—प्रतिष्ठा की कामनावाले बालक का नाम दो अक्षर से युक्त हो और ब्रह्मवर्चस् की कामनावाले पुत्र का नाम चार अक्षरों से युक्त हो। यहाँ प्रतिष्ठा की कामना क्षात्र-शक्ति का और ब्रह्मवर्चस् की कामना ब्राह्म-शक्ति का द्योतक हैं। वैदिक

---

१. आश्वलायन गृह्यसूत्र

राष्ट्रगीत में ब्रह्म से प्रार्थना की गई है कि हमारे राष्ट्र में ब्राह्मण ब्रह्मवर्चसी हों और क्षत्रिय शूरवीर, लक्ष्य को भेदनेवाले, व्याधियों का अतिक्रमण करनेवाले, समाधिमान् महारथी हों। इन सभी विशेषणों के कारण बालक प्रतिष्ठा को प्राप्त होगा, वह यशस्वी होगा। जिस प्रकार मातृभूमि सबकी प्रतिष्ठा है, उसी प्रकार यह बालक सबकी प्रतिष्ठा बनेगा और यशस्वी होगा। अतः कहा गया—प्रतिष्ठा की कामनावाले बालक का नाम दो अक्षरोंवाला हो और ब्रह्मवर्चस् की कामनावाले बालक का नाम चार अक्षरोंवाला हो। प्रतिष्ठा की कामनावाले बालक के निर्माण के लिए जितने समय की अपेक्षा है, ब्रह्मवर्चस् की कामनावाले बालक के निर्माण के लिए द्विगुण समय की अपेक्षा है। इसलिए कहा—क्रमशः दो अक्षर और चार अक्षर-वाला नाम रखें।

२—दूसरा प्रश्न है कि नाम में **घोष, अन्तस्थ** और **'ह'** ऊष्माक्षर अवश्य होने चाहिएँ। इसी को यदि हम प्रत्याहार सूत्रों के अनुसार देखें तो नाम में **अल् प्रत्याहार अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल। ञम्** प्रत्याहार **ञ, म, ङ, ण, न,** झष् प्रत्याहार **झ, भ, घ, ढ, ध** और **ख, फ, छ, ठ, ध,** अक्षर होने चाहिएँ।

घोष ध्वनियों की उपयोगिता—

इसमें यदि कल्पना की छलाँग लगाई जाय तो यही व्याख्या करेंगे कि जब पुत्र से यह कामना की गई है कि तुम जैसे वीर पुत्रों के कारण हम **सुवीर** कहलाएँ, हमारा पुत्र प्रतिष्ठावान्, यशस्वी और ब्रह्मवर्चस्वी हो, तो क्यों न हम ऐसा नाम रखें कि जिसके नाम की घोषणा ही शत्रुओं का दिल दहला दे, उनके नाम का जयघोष ही विजय दिलाए—

१—**जयताम् यन्तु घोषाः**[१]।

महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात्[२] अर्थात् महामनस्वी भुवन को कँपा देनेवाले देवों के जय-जय घोष सर्वत्र सुनाई दें।

अत्रेतिहासमाचक्षते—हम इस पर अति प्रसिद्ध इतिहास सुनाते हैं। महाभारत युद्ध के प्रथम दिन ही जब दोनों ओर की सेनाएँ युद्धार्थ संन्नद्ध थीं और दुर्योधन, सेनापति पितामह भीष्म को दोनों ओर की सैन्यशक्ति का सन्तुलन कर समझा रहा था, तो पितामह भीष्म ने भी सिंहनाद करके शंख को बजाया। उसके उत्तर में श्रीकृष्ण, पाँचों पाण्डवों और अन्य महारथियों ने भी शंखघोष किया। उस घोष से धृतराष्ट्र के पुत्रों के दिल दहल उठे। तद्यथा—

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः॥
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च, सुघोष मणिपुष्पकौ॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां, हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्[३]**॥**

अन्तस्थ ध्वनियों का औचित्य—

नाम में **अन्तस्थ** अक्षरों का होना यह सूचित कर रहा है कि बालक की एक अवस्था आएगी कि जब वह अन्तेवासी कहलाएगा, आचार्य उसे **अन्तस्थ** कर लेगा। अथर्ववेदीय

---

१. यजुर्वेद १७-४२, सामवेद ३०९, प्रपा० ३,४,१

२. यजुर्वेद १७-४१

३. भगवद्गीता-अ० १ श्लो० १२,१४,१५,१६

ब्रह्मचर्य सूक्त में कहा भी है—**आचार्यः उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस् तिस्त्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुम् अभि संयन्ति देवाः**[१]। उपनयन की कामना से आचार्य ब्रह्मचारी-रूप गर्भ को अपने उदर में **अन्तस्थ** कर लेता है। **अन्तस्थ** करने का अभिप्राय अन्तेवासी का **वर्ण**-परिवर्तन है। तद्यथा—**इ, उ, ऋ, ऌ** का वर्ण-परिवर्तन ही तो **य, र, ल, व** ये चार वर्ण-ध्वनियाँ हैं। इनको यदि चार सामाजिक वर्णों का प्रतीक मान लिया जाए तो **इकार** को ब्राह्मण-वर्ण का, **उकार** को क्षत्रिय-वर्ण का, **ऋकार** को वैश्य-वर्ण का, **ऌकार** को शूद्र वर्ण का प्रतीक माना जाएगा। इस प्रकार आचार्य इन्हें अन्तस्थ कर निर्माण करता है। जिस प्रकार इक् ध्वनियाँ मुख -विराट् में बन्द हो अन्तस्थ ध्वनियों में परिवर्तित हो जाती हैं, तद्वत्—इकार अर्थात् गतिशील ब्राह्मण, **य** वर्ण में परिवर्तित होकर **यम, नियम, संयमादि** का धारणकर्त्ता, **उकार** निश्चयकर्त्ता क्षत्रिय **व** वर्ण में परिवर्तित होकर सबका रक्षणकर्त्ता, **ऋकार** मितगति से सम्पन्न वैश्य **रयिवित्** होकर सबके लिए **रमणीय** हो जाए। उसी प्रकार **ऌकार** वर्ण भी ल भाव को अर्थात् शूद्र- वर्णस्थ हो इतर वर्णियों के लिए लाभप्रद हो और उनसे लाभ प्राप्त करें। तैत्तिरीय उपनिषत्कार ने अध्यात्म-संहिता का वर्णन करते हुए क्या ही अच्छा कहा है—**अधराहनुः पूर्वरूपम्, उत्तराहनुः उत्तररूपम्, वाक्-सन्धिः, जिह्वासन्धानम् इत्यध्यात्मम्**[२]॥ हमें कहने की अनुमति दें कि इसीकी अनुकृति में कह सकें, **विड्पूर्वरूपम्। शूद्रोऽत्तररूपम् ब्रह्म सन्धिः क्षत्रः सन्धानम् आचार्यः सन्धाता**[३] **इत्यधिराष्ट्रम्**। यह हुआ नामकरण

---

१. अथर्ववेद ११-५-३

१. तैत्तिरीय उ० श० ४

२. दीक्षानन्दस्य

में अन्तस्थाक्षरों के रखे जाने का औचित्य।

बालक के नाम रखने में चार प्रकार के अक्षरों का ध्यान रखना होता है—

१—समस्त स्वर

२—पाँचों वर्गों के आरम्भिक दो-दो अक्षर छोड़कर भी सभी शेष स्पर्श अक्षर।

३—चारों अन्तस्थ अक्षर। एकमात्र **ऊष्म हकार** अक्षर। हमने यथामति प्रथम तीन बिन्दुओं से सम्बद्ध नाम में दिये जानेवाले कारण पर पर्याप्त विचार कर लिया। अब एकमात्र चतुर्थ बिन्दु **ऊष्माक्षर हकार** के बारे में विचार प्रस्तुत करते हैं। जिस बालक के नाम में **ऊष्माक्षर हकार** का प्रयोग होगा, जहाँ वह नाम में विद्यमान होकर अर्थ को द्योतित करेगा, वहाँ ऊष्माक्षर इस बात का भी संकेत होगा कि बालक अन्वर्थ नामवाला होते हुए प्राणवान् होगा। ऊष्माक्षर के उच्चारण में व्यक्ति को अन्य अक्षरों की अपेक्षा कुछ अधिक बल लगाना पड़ता है, जिससे उसकी ऊष्मा मुखविवर से बाहर निकलती है, तद्यथा—**श, स, ष, ह।** जिस प्रकार शरद् ऋतु में चलते-दौड़ते व्यक्ति के मुख से वाष्प निकलती दिखाई देती है, प्राणायाम में जिसे **रेचक** कह सकते हैं, इसकी अपेक्षा से स्पर्श अक्षरों को **पूरक** व अन्तस्थ अक्षरों को **कुम्भक** कहेंगे। स्वर अक्षर व्यक्ति की प्राण-विषयक त्रिविध प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप स्वर-भाव को प्राप्त होगा अर्थात् स्वस्थ होगा। यदि यह कहा जाए कि स्वर और स्वस्थ दोनों पद पर्यायवाची हैं, तो कोई अत्युक्ति न होगी।

प्रतिष्ठा की कामनावाले बालक का नाम दो अक्षरोंवाला हो और ब्रह्मवर्चस् की कामनावाले बालक का नाम चार अक्षरोंवाला रखा जाए। इसका उत्तर देने के बाद अन्तिम प्रश्न

रह जाता है कि—पुरुष का नाम समाक्षर हो, और स्त्री के नाम में विषमाक्षर हो। जो अङ्क विभक्त होते हैं उन्हें समाङ्क कहते हैं, और जो अङ्क विभक्त नहीं होते उन्हें विषमांक कहते हैं। पुरुष नाम में समाक्षर होने का अभिप्राय विभक्त होना है; नारी के नाम में विषमाक्षरों का होना उसके अविभक्त होने का द्योतक है। पुरुष अपने-आपको गर्भरूप में पुनः पुत्ररूप में विभक्त करता है। नारी अविभक्त शक्ति है। उसे बाँटा नहीं जा सकता। उसकी जिस पुरुष के प्रति भक्ति है वह भक्ति अविभक्त है; समर्पण की पराकाष्ठा है। विषमाक्षर का होना इस बात का भी सूचक है कि उसमें नम्रता हो, मृदुता हो, कोमलता हो, यही नारी की विशेषता है। इस बात को वैदिक ऋचा में क्या ही सुन्दरता से प्रतिपादित किया है—**मृदुः, निरमन्युः, केवली, प्रियवादिनी, अनुव्रता**[१]। ये सभी विशेषण अविभक्त होने से विषम होने के सूचक हैं। विद्वज्जन इस विषय पर कोई अन्य समाधान प्रस्तुत करेंगे तो वह शिरोधार्य होगा। हम उसे अगले संस्करण में उपयोग कर सकेंगे।

दिन-दिन सुदिन हो—

नामकरण-संस्कार में चार चिरन्तन प्रश्नों के समाधान में अन्तिम प्रश्न **को नामासि** का समाधान करते हुए परिवार की अपेक्षा से जो नाम हो सकते हैं उनका वर्णन किया गया। समाज को उस बालक से क्या अपेक्षा है वह भी शर्म, वर्म, मर्म और (धर्म) दास इन नामों से सूचित कर दिया गया। बालक के पिता ने अपने अपनी कुल-परम्परा की कामनानुकूल उसके उभयविध नाम रख लिये, अन्त में समाज अपनी अपेक्षा से आशीर्वचन में उन्हें दोहरा रहा है जो इस प्रकार है—**हे बालक! त्वं आयुष्मान्, वर्चस्वी, तेजस्वी श्रीमान् भूयाः**। इस आशीर्वाद में सर्वप्रथम बालक के आयुष्य की

कामना की गई है। व्यक्ति की आयु पर ही सब कामनाएँ सफल होंगी। नीतिकार ने कहा भी है—'**जीवन्नरः भद्र शतानि पश्यति**'—जीता रहकर ही मनुष्य सैकड़ों भद्रताओं को देखता है। इससे पहले जातकर्म-संस्कार में भी समाज द्वारा दिये गए आशीर्वचन-मन्त्र के अन्त में कहा गया था—'**सुदिनत्वमह्नाम्**' तेरा एक-एक दिन सुदिन बीते। उस संस्कारगत '**सुदिनत्वमह्नाम्**' की मुहारनी नामकरण-संस्कार में और भी विस्तृत एवं विकसित होकर आई है। उसका विधान करते हुए मन्त्र-ब्राह्मणकार ने कहा—'**आहस्पत्यं मासं प्रविश**'।

ओं स त्वाऽह्ने परिददातु, अहस्त्वा रात्र्यै परिददातु, रात्रिस्त्वाऽहोरात्राभ्यां परिददातु, अहोरात्रौ त्वार्धमासेभ्यः परिदत्ताम्, अर्धमासास्त्वा मासेभ्यः परिददतु, मासास्त्वर्तुभ्यः परिददतु, ऋतवस्त्वा संवत्सराय परिददतु, संवत्सरस्त्वायुषे जरायै परिददातु असौ॥

प्रजापति परमात्मा जहाँ तुझे दिन को समर्पित करे, वहाँ प्रथम दिवस अगली रात्रि को यथावत् समर्पित कर दे, और रात्रि तुझे अगले दिन-रात के लिए धरोहर के रूप में समर्पित करे और यह दिन-रात इस धरोहर को अपना भाग मिलाकर अर्धमास के लिए सौंप दे और वह अर्धमास पूर्णमास के लिए समर्पित करे और पूर्णमास ऋतुओं को अर्पित कर दे और ऋतुएँ उस धरोहर में अपनी शक्ति का निपात कर सम्वत्सर को सौंप दे और सम्वत्सर-परम्परा से प्राप्त हुई यह धरोहर वृद्धावस्था तक पहुँचानेवाली आयु तक पहुँचाए, जिससे जातकर्म-संस्कार में आगन्तुक व्यक्तियों द्वारा दिया हुआ **सुदिनत्वमह्नाम्** आशीर्वचन सफल हो सके।

अदीन होकर सौ वर्ष जिएँ—

आज गोदी में लेटे हुए जिस बालक को यह आशीर्वाद

मिल रहा है, जब इसका और इसके मित्रों का उपनयन-संस्कार होगा तो इनके आचार्यश्री इन्हें सूर्यदर्शन कराकर सूर्यदर्शन का आशय समझाते हुए कहेंगे—प्रिय शिष्यो! जिस प्रकार ब्रह्म की चक्षुरूप सूर्य से आँख मिलाना कठिन है, तद्वत् तुमसे भी सामान्य व्यक्ति का आँख मिलाना कठिन होगा; जिस प्रकार यह प्रत्यक्ष दृश्यमान सूर्य ब्रह्माण्ड-देह के पृथिवी-स्थानीय नाभि-केन्द्र से जल को वाष्प बनाकर ऊपर उठा ले जाता है, उस समय मानो वह ऊर्ध्वरेता होता है। प्रिय शिष्यो! यदि तुम भी अपने नाभि-केन्द्र में स्थित वीर्य को वाष्प बना-कर ऊपर उठा लोगे तो तुम्हारी आँखों का तेज भी वैसा ही होगा, जैसा कि विराट्-पुरुष की आँखों का तेज है। आचार्यश्री के इस उपदेश को सुनने के उपरान्त शिष्य-मण्डली करबद्ध होकर प्रार्थना करने के लिए मंत्रोच्चारण करने लगी—"**पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतं, शृणुयाम शरदः शतं, प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं, भूयश्च शरदः शतात्**"—अहा! ऐसे दृश्यों को देखने के लिए हमारी आँखें सौ शरद् ऋतुओं तक बनी रहें। हममें सौ शरद् ऋतुओं तक प्राणशक्ति का संचार रहे। अहा! ऐसे व्याख्यान सुनने के लिए हमारे कान सौ शरद् ऋतुओं तक बने रहें। और ऐसे उपदेशों को सुनाने के लिए हमारी वाणी सौ शरद् ऋतुओं तक बनी रहे। इससे भी अधिक आयु प्राप्त करूँ तो **अदीनाः स्याम शरदः शतम्**—हम अदीन होकर रहें। प्रभु हमें शक्ति दे कि बड़ों के दिये आशीर्वाद—**सुदिनत्वमह्नाम् आयुष्मान् भूयाः** और **संवत्सरस्त्वायुषे जरायै परिददतु** को जीवन में चरितार्थ कर सकें।

—o—

मन्त्रानुक्रमणिका

नामानि–सूचीक्रमः

ईशा
ईश्वर
उग्र
उग्रकर्मा
उग्रतेजा
उग्रश्रवा
उग्रसेन
उग्रायुध
उत्तमौजा
उत्तर
उत्तरा
उद्धव
उद्‌भव
उपमन्यु
उमा
उर्वशी
ऊर्ध्वबाहु
ऋतधामा
ऋतुपर्ण
ऋद्धि
कमलाक्ष
कमलाक्षी
कर्ण
कल्याणी
कवि

कश्यप
कान्ति
कामदा
कामा
काम्या
काश्यप
कीर्ति
कीर्तिधर्मा
कीर्तिमान्
कुन्तिभोज
कुन्ती
कुमार
कुमारी
कुश
कुशिक
कृतचेता
कृतबन्धु
कृतवर्मा
कृतवाक्
कृतवीर्य
कृति
कृप
कृपाचार्य
कृष्णवर्मा
कृष्ण

केतु
केतुमान्
केतुवर्मा
केशव
कैकेयी
कौत्स
कौशिक
कौशल्या
क्रतु
क्षेम
क्षेमङ्कर
गङ्गा
गणेश
गय
गर्ग
गवय
गायत्री
गायन
गीतप्रिया
गीता
गुणमुख्या
गुणवती
गुणावरा
गोपति
गोपाली

गोविन्द
गौतम
गौतमी
गौरी
घृतवती
चक्रनेमि
चन्द्र
चन्द्रकेतु
चन्द्रदेव
चन्द्रमा
चन्द्रवत्स
चन्द्रवर्मा
चन्द्रसेन
चन्द्राश्व
चन्द्रोदय
चारु
चारुनेत्रा
चारुयशा
चारुवेश
चित्रकेतु
चित्रगुप्त
चित्रदेव
चित्रधर्मा
चित्रबाहु
चित्ररथ

चित्ररथा
चित्रलेखा
चित्रवर्मा
चित्रवाहन
चित्रसेन
चित्रसेना
चित्रा
चित्राङ्ग
चित्राङ्गद
चित्राङ्गदा
चिरकारी
चीरवासा
चेकितान
चैत्ररथ
च्यवन
जनक
जनदेव
जनार्दन
जमदग्नि
जय
जयत्सेना
जयद्वल
जयद्रथ
जयन्त
जयन्ती

जयप्रिया
जयरात
जयसेन
जया
जयानीक
जयावती
जितवती
जितात्मा
जिष्णु
जिष्णुकर्मा
जीवक
जैमिनि
ज्योति
ज्योत्स्ना
तपती
तालकेतु
तिलोत्तमा
तुलाधार
तुषार
तृणबिन्दु
तेजस्वी
त्र्यम्बक
त्वष्टा
त्वष्टाधर
दक्ष

दण्डकेतु
दत्तात्मा
दत्तात्रेय
दत्तामित्र
दधिमुख
दधीचि
दम
दमघोष
दमन
दमयन्ती
दशज्योति
दशरथ
दशाश्व
दाक्षायणी
दामोदर
दिलीप
दिवस्पुत्र
दिवाकर
दिविरथ
दिवोदास
दिव्यसानु
दिव्यकेतु
दीपक
दीप्ति
दीर्घतमा

दीर्घप्रज्ञ
दीर्घबाहु
दीर्घायु
दुष्यन्त
दृढ़व्रत
देवक
देवकी
देवदत्त
देवदूत
देवमत
देवमित्रा
देवयाजी
देवयानी
देवरात
देवल
देवव्रत
देवशर्मा
देवहव्य
देवहोत्र
देवातिथि
देवाधिप
देवापि
देविका
देवी
द्युति

द्युतिमान्
द्युमत्सेन
द्रुपद
द्रुम
द्रुमसेन
द्रोण
द्रौपदी
द्विविद
धनंजय
धनदः
धनदा
धनुष
धनुषाक्ष
धन्वन्तरि
धर्मनेत्र
धाता
धारण
धिषणा
धीमान्
धृतराष्ट्र
धृतवर्मा
धृतसेन
धृति
धृतिमान्
धृष्टकेतु

धृष्टद्युम्न
धेनुक
ध्रुव
ध्रुवरत्ना
ध्वजवती
ध्वजिनी
नकुल
नन्दिनी
नन्दिसेन
नभोद
नमुचि
नर
नरिष्यन्त
नल
नलिनी
नहुष
नागदत्त
नाचिकेत
नाभाग
नारद
नारायण
निधि
निमि
निमेष
नियति

नियुतायु
निरमित्र
निरामय
निरामया
निशा
निशुम्भ
निषध
निषाद
नृग
पञ्चजन
पद्म
पद्मनाभ
पद्मसर
पद्मावती
पयोदा
परशुराम
परावसु
पराशर
परिक्षित्
परिश्रुत
पर्जन्य
पर्णाद
पवित्रपाणि
पाणिमान्
पारद

पार्थ
पार्वती
पावक
पावन
पिङ्गल
पिङ्गाक्षी
पिप्पलाद
पुण्य
पुण्यकृत्
पुण्यनामा
पुनश्चन्द्रा
पुरु
पुरुकुत्स
पुरुजित्
पुरुमित्र
पुरुमीढ़
पुरुषोत्तम
पुरुखा
पुरोचन
पुलह
पुलोमा
पुष्कर
पुष्करिणी
पुष्टि
पुष्टिमति

पुष्प
पुष्पक
पुष्पदन्त
पुष्परथ
पुष्पवती
पुष्पवान्
पुष्पानन्
पूतिका
पूरण
पूरु
पूर्ण
पूर्णभद्र
पूर्णमुख
पूर्णा
पूर्णाङ्गद
पूर्णायु
पूर्वचित्ति
पूर्वपाली
पूर्वाभिरामा
पूषणा
पृथा
पृथाश्व
पृथु
पृथुवेग
पृथुश्रवा
पृश्नि
पृश्निगर्भ
प्रचेता
प्रजागरा
प्रजापति
प्रणिधि
प्रणीत
प्रतर्दन
प्रताप
प्रतिरूप
प्रतिविन्ध्य
प्रतिश्रवा
प्रतिष्ठा
प्रतीच्या
प्रतीत
प्रतीप
प्रत्यङ्ग
प्रदाता
प्रद्युम्न
प्रद्योत
प्रधान
प्रबाहु
प्रभञ्जन
प्रभद्रक
प्रभा
प्रभाकर
प्रभाता
प्रभावती
प्रभु
प्रमति
प्रमथ
प्रमद्वरा
प्रमाथ
प्रमाथी
प्रमाथिनी
प्रमुच
प्रमोद
प्रयुत
प्रलम्ब
प्रवसु
प्रवाह
प्रवीर
प्रशमी
प्रशस्ता
प्रशान्तात्मा
प्रसुह्य
प्रसृत
प्रसेन
प्रसेनजित्
प्रस्थला

प्रहस्त
प्रहास
प्रह्लाद
प्राचेतस
प्राप्ति
प्रियदर्शन
फलोदक
बर्हिषद
बलद
बलदेव
बलबन्धु
बलि
बलिवाक
बार्हस्पत्य
बालधि
बालस्वामी
बाहु
बाहुक
बाहुदा
बुद्धि
बुद्धिकामा
बुद्बुदा
बुध
बृहस्कीर्ति
बृहत्क्षत्र

बृहत्सेन
बृहत्सेना
बृहदश्व
बृहदुक्थ
बृहद्गर्भ
बृहद्गुरु
बृहद्बल
बृहद्भानु
बृहद्भास
बृहद्भासा
बृहद्रथ
बृहन्मना
बृहन्मन्त्र
बृहस्पति
बोध
बोध्य
ब्रह्मदत्त
ब्रह्मदेव
ब्रह्ममेध्या
ब्रह्मयोनि
ब्रह्मा
भग
भगदत्त
भगदा
भगनन्दा

भगीरथ
भद्र
भद्रकार
भद्रमना
भद्रशाल
भद्रा
भय
भरणी
भरत
भव
भवदा
भानु
भानुदत्त
भानुदेव
भानुमती
भानुमान्
भानुसेन
भारत
भारती
भारद्वाज
भार्गव
भाविनि
भास
भास्कर
भास्वर

भीम
भीमजानु
भीमबल
भीमरथ
भीमवेग
भीमसेन
भीष्म
भीष्मक
भुमन्यु
भुवन
भूतकर्त्ता
भूतधामा
भूतमथन
भूतलय
भूतशर्मा
भूपति
भूमि
भूमिञ्जय
भूमिपति
भूमिपाल
भूमिशय
भूरि
भूरितेजा
भूरिद्युम्न
भूरिबल

भूरिश्रवा
भूरिहा
भृगु
भेरीस्वना
भोगवती
भोगवान्
भोज
भोजा
भौम
मञ्जुला
मणिभद्र
मणिमान
मति
मतिनार
मदयन्ती
मधु
मधुर
मधुरस्वरा
मधुलिका
मधुवर्ण
मधुविला
मधुसूदन
मनस्यु
मनस्विनी
मनु

मनोजव
मनोजवा
मनोरमा
मनोहरा
मन्थिनी
मन्दग
मन्दपाल
मन्दार
मन्दोदरी
मन्युमान
मरीचि
मरुत्त
मर्यादा
महाजय
महाजवा
महाजानु
महातेजा
महादेव
महाद्युति
महान्
महाबाहु
महाभौम
महामती
महामुख
महायशा

महावीर
महावेगा
महाशिरा
महाश्व
महासेन
महाहनु
महिषदा
महेश्वर
महोदर
महोदर्य
महौजा
मातरिश्वा
मातलि
माद्रवती
माद्री
माधव
माधवी
मालविका
मालिनी
मित्र
मित्रज्ञ
मित्रदेव
मित्रधर्मा
मित्रवर्धन
मित्रवर्मा

मित्रवान्
मित्रविन्द
मित्रविन्दा
मित्रसह
मित्रा
मित्रावरुण
मिश्रकेशी
मुचुकुन्द
मुञ्ज
मुञ्जकेतु
मुञ्जकेश
मुदिता
मुद्गल
मेनका
मेना
मैत्रेय
यज्ञवाह
यज्ञसेन
यति
यथावास
यदु
यम
ययाति
यवक्रीत
यशस्विनी

यशोदा
यशोधर
यशोधरा
याज्ञवल्क्य
यास्क
युगन्धर
युधामन्यु
युधिष्ठिर
युयुत्सु
युयुधान
युवनाश्व
योग
रक्षिता
रघु
रता
रति
रतिगुण
रथचित्रा
रथध्वान
रथन्तर
रथप्रभु
रथवाहन
रथसेन
रन्तिदेव
रमण

रम्भा
रवि
रश्मिवान्
रहस्या
राका
रागा
राजधर्मा
राजनी
राधा
राम
राहु
रुक्मिणी
रुक्मी
रुचि
रुचिपर्वा
रुचिप्रभ
रुद्र
रुद्ररोमा
रुद्रसूनु
रुद्रसेन
रेणुका
रेवती
रोचनामुख
रोचमान
रोचमाना

रोहिणी
रौद्रकर्मा
रौद्राश्व
लक्षणा
लक्ष्मण
लक्ष्मणा
लक्ष्मी
लज्जा
लता
लम्बिनी
लम्बा
लय
ललाम
लिखित
लोपामुद्रा
लोमपाद
लोमश
वंशा
वक
वज्रदत्त
वज्रनाभ
वज्रबाहु
वत्सनाभ
वत्सल
वदान्य

वनायु
वन्दना
वन्दी
वपु
वपुष्टमा
वपुष्मती
वरद
वरयु
वराह
वरिष्ठ
वरी
वरण
वरेण्य
वर्मा
वर्चा
वर्धन
वर्धमान
वल्लभ
वसिष्ठ
वसुचन्द्र
वसुदान
वसुधारा
वसुप्रभ
वसुमना
वसुमित्र

वसुश्री	विजया	विरजा
वसुषेण	विदुर	विराज्
वसुहोम	विदुला	विराट्
वागिन्द्र	विदेह	विराध
वाग्मी	विद्या	विरूप
वाणी	विद्याधर	विरोचन
वातघ्न	विद्युज्जिह्वा	विरोचना
वाताधिप	विद्युता	विवर्धन
वातापि	विद्युताक्ष	विवस्वान्
वामदेव	विद्युत्प्रभ	विवित्सु
वामन	विद्युत्प्रभा	विशाख
वामनिका	विद्युद्वर्चा	विशाखा
वामा	विद्युन्माली	विशाला
वायुरेता	विद्योता	विशोक
वायुवेग	विधाता	विशोका
वायुहा	विनता	विश्वकर्मा
वारिसेन	विनायक	विश्वकृत
वाल्मीकि	विपाट्	विश्वजित्
वासवी	विप्रचित्ति	विश्वपति
वासिष्ठ	विभावसु	विश्वभुक्
वासुदेव	विभीषण	विश्वरुचि
विकर्ण	विभीषणा	विश्वरूप
विक्रम	विभु	विश्वा
विचित्र	विभूति	विश्वामित्र
विजय	विमला	विश्वामित्रा

विश्वायु
विश्वावसु
विश्वदेव
विष्णु
विष्णुयशा
विष्वक्सेन
विश्वगश्व
वीतहव्य
वीतिहोत्र
वीर
वीरकेतु
वीरद्युम्न
वीरधन्वा
वीरधर्मा
वीरप्रमोक्ष
वीरबाहु
वीरभद्र
वीरमती
वीरसेन
वीरा
वीराक्षय
वीरिणी
वीरुधा
वीर्यवती
वीर्यवान्

वृक्
वृत्र
वृद्धकन्या
वृद्धक्षेम
वृद्धभार्ग्य
वृद्धशर्मा
वृद्धिका
वृन्दारक
वृष
वृषध्वज
वृषपर्वा
वृषभ
वृषभा
वृषसेन
वृषामित्र
वृष्णि
वेगवान्
वेणा
वेणिका
वेणी
वेद
वेदमती
वेदशिरा
वेदाश्वा
वेदी

वेन
वैजयन्त
वैजयन्ती
वैवस्वत
वैश्वानर
व्यास
व्योमारि
शंयु
शकुन्त
शकुन्तला
शक्ति
शक्रदेव
शङ्कर
शंकुकर्ण
शची
शतधन्वा
शतपत्रवन
शतपर्वा
शतबला
शतभिषा
शतमुख
शतयूप
शतरथ
शतानन्द
शतानन्दा

शतानीक
शतायु
शत्रुघ्न
शत्रुञ्जय
शत्रुञ्जया
शत्रुतपन
शत्रुन्तप
शत्रुसह
शर्याति
शलभ
शल्य
शशबिन्दु
शशयान
शशाद
शान्त
शान्तनु
शान्ता
शान्ति
शिंशुमा
शिक्षक
शिखावर्त
शिखावान्
शिखी
शिव
शिवा
शिशिर
शिशु
शिशुपाल
शिशुरोमा
शीलवान्
शुक
शुकदेव
शुक्तिमति
शुक्तिमान्
शुक्र
शुक्राचार्य
शुक्ल
शुचि
शुचिका
शुचिव्रत
शुचिश्रवा
शुचिस्मिता
शुनक
शुभाङ्गद
शुभाङ्गी
शून्यपाल
शूर
शूरसेन
शूरसेनी
शैब्या
शैलूष
शैलोदा
शैवाल
शैशव
शोभना
शौनक
श्येनचित्र
श्येनजित्
श्रद्धा
श्रवण
श्री
श्रीकण्ठ
श्रीवत्स
श्रीवह
श्रुतकर्मा
श्रुतकीर्ति
श्रुतञ्जय
श्रुतध्वज
श्रुतश्रवा
श्रुतश्री
श्रुतसेन
श्रुतानीक
श्रुतान्त
श्रुतायु
श्रुतावती

श्रुति
श्रेणिमान्
श्वेतकि
श्वेतकेतु
श्वेतभद्र
श्वेतवक्त्र
श्वेतवाहन
श्वेतसिद्ध
श्वेता
संकोच
संकृति
संक्रम
संग्रामजित्
संचारक
संज्ञा
संयम
संयमन
संयाति
संवरण
संवर्त
संवर्तक
संवर्तवापी
संवह
संवृत्त
संवेत्ति
संवेद्य
संश्रुत्य
संहनन
संह्लाद
सगर
सञ्जय
सञ्जयन्ती
सञ्जीवनी
सत्य
सत्यक
सत्यकर्मा
सत्यजित्
सत्यदेव
सत्यधर्मा
सत्यधृति
सत्यपाल
सत्यभाषा
सत्यरथ
सत्यवती
सत्यवर्मा
सत्यवाक्
सत्यवान्
सत्यव्रत
सत्यश्रवा
सत्यसंध
सत्यसेन
सत्या
सत्येषु
सत्राजित
सदश्व
सदाकान्ता
सनत्कुमार
सनत्सुजात
सनातन
सुषमा
सुमेधा
सुकामा
सुतेजा

परिशिष्ट

अभिलाश	अभिशेक	अमित	अर्पित
आशिष	बलदेव	दिशेभ	
ज्ञान	गौरव	गोभिल	इला
करण	कुशल	लक्ष्मण	मनन
मयंक	नेहा	निकुञ्ज	ओजस्वी
प्रशान्त	परीक्षित	पृथ्वी	पुलकित
रक्षित	समीर	शिखार	स्वाति
विशाल	हर्षित	साहिल	अमीर
रोहित	अभिनव	अञ्जलि	गरिमा
जागृति	जतीन	कीर्ति	मालविका
मृदुला	मुदिता	विनीता	प्रतीक
ऋषभ	सच्चितानन्द	शिवम्	श्रिया
श्रीनिधि	तनु	वैशाली	युक्ति
ईशान	हर्षवर्धन	ऐश्वर्य	अमन
अनुराग	आशुतोष	गौरव	हेमा
निशान्त	नितीश	प्रेरित	नितिन
प्रेरणा	सिद्धार्थ	श्लोक	सुशान्त
विवेक	यशदीप	यतिन	आदित्य
हिमांशु	नीरज	अर्पित	अक्षय
अंकित	अतुल	अरित्रा	आयुष
आयुषी	भास्कर	दिवेश	गुलशन
हरीश	केशव	निखिल	राजत
ऋषभ	साहिल	साक्षी	शगुन
शिवांगी	सोनाली	सुप्रिया	सुरभि

वैभव	अखिलेश	राहुल	आर्शी
आदित्य	आकांक्षा	अजय	अनुपम
अन्तरिक्ष	अभिलाषा	दीपिका	दीपक
हर्षित	कार्तिक	कुणाल	लक्ष्य
मोहित	मयंक	प्रियंका	प्रत्युषा
रविशु	रोहित	राहुल	रुद्राक्षी
रीतु	अश्विन	समृद्धि	सौरभ
योगेश	युगान्त	उमेश	श्रिया
विनायक	चेतन	दक्ष	दीपिका
दीक्षान्त	कोमल	खुशबु	मोहित
निखिल	नितीश	पंकज	पूजा
प्रतीक	शिवानी	श्वेता	सिद्धार्थ
सुरभि	त्रिप्ता	विशाल	वर्चश्विनी
रश्मि	रेणुका	वन्दना	धिव्या
आयुष	अनन्य	आकाश	अकुल
अंकित	ज्योति	जितेश	केशव
कञ्चन	नमन	पल्लव	रवि
राजन	सचिन	सुमित	साहिल
वरुण	अभिनव	रवि	दर्शन
तरुण	अञ्चल	अक्षित	आनन्द
अर्पणा	असीम	दीपाली	दिव्यांगना
जय	नियुक्ति	परीक्षित	पूजा
पुनीत	समीर	सुमेधा	तनय
वमीका	यश	गौतम	निधि
संगीता			